पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 44 जनवरी-फरवरी, 2013

संपादक

भारत भारद्वाज

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता
अंक : 44 जनवरी-फरवरी, 2013

प्रकाशक :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442005
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव
email : bpsjnu@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 08055290240

प्रचार-प्रसार : रामप्रसाद कुमरे
email : ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 09552114176, 09406546762

© संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ₹ 20
वार्षिक सदस्यता : ₹ 120
चेक/ड्रॉफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक ₹ 145 और द्वैवार्षिक ₹ 265 म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा को भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं। पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें। रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, (मो. 09212796256)।

प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943

संपादकीय संपर्क :
211, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
मो.-09313034049 (संपादकीय)
टेली.-011-42151470

PUSTAK-V̄ARTA
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (09212796256) email : ruchikaprinters2005@gmail.com

आवरण अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय	: **नवलकिशोर प्रेस, रकाबगंज, लखनऊ और मुंशी नवलकिशोर भार्गव**/ भारत भारद्वाज	4
पुस्तकें और मैं	: **मेरा आनंदधाम**/ हरदयाल	6
उपन्यास	: **परिवर्तनकारी समाज का महाख्यान : सात फेरे**/ देवेंद्र कुमार देवेश	9
	: **देह की मुखरता**/फ़ज़ल इमाम मल्लिक	11
कहानी	: **चाय के प्याले में गेंद**/राजीव कुमार	13
	: **शब्द टटोलते हैं गूंगे दर्द के हाथ**/रजनी गुप्त	15
	: **ईमां मुझे रोके है जो खींचे है मुझे कुफ्र**/आदित्य विक्रम सिंह	16
	: **लोक जीवन की अभिव्यक्ति**/रवि रंजन कुमार	18
	: **प्रतिगामी समय के प्रतिरोध में**/रेवती रमण	20
कविता	: **गुमशुदा उम्मीदों की निशानदेही करती कविताएं**/विपिन चौधरी	23
	: **मनुष्यता को बचाए रखने का प्रयास करती कविता**/हितेश कुमार सिंह	25
	: **बीतते हुए समय का अहसास**/मूलचंद गौतम	27
	: **शहर के सबसे मासूम हिस्से को छूना चाहता हूं**/अरुण होता	28
	: **पहाड़ की कविता और कविता के पहाड़**/स्वप्निल श्रीवास्तव	30
आलोचना	: **खड़ी बोली हिंदी के पहले कवि नजीर अकबराबादी के काव्य का महत्त्व**/कांति कुमार जैन	23
	: **लोक-संबद्ध कवि की काव्य-यात्रा**/पूनम सिंह	34
	: **समीक्षा की तटस्थ और पारदर्शी आंख**/रामशंकर द्विवेदी	36
	: **एक गिरमिटिया के भोगे हुए यथार्थ का दर्द-ए-दास्तान**/श्रीकांत सिंह	39
राजनीति	: **इतिहास की साहित्यिक प्रस्तुति**/पुनीत कुमार	41
नाटक	: **खिड़कियां और रास्ते**/राजेश्वरी सिंह	44
	: **बाबर की औलाद**/रणजीत साहा	46
संस्मरण	: **हंसबलाका और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री**/विजय शंकर मिश्र	49
	: **दरख्तों के साये में मधुकर गंगाधर**/भारत यायावर	52
सिनेमा	: **अब किसी शहर की बुनियाद ना डाली जाए**/इक़बाल रिज़वी	54
कला	: **साहित्य और कलाओं की अंतर्संबंधता**/मनोज मोहन	55
यात्रा-रिपोर्ताज	: **उत्तर-पूर्व : विचित्र देश की सचित्र यात्रा या पूर्वोत्तर का पक्ष**/प्रेमपाल शर्मा	57
रिपोर्ताज	: **विधाओं के व्याकरण के विरुद्ध एक दुनिया**/पंकज पराशर	59
सात समंदर पार	: **सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानी 'अखबार वाला' का अंतर्पाठ**/साधना अग्रवाल	61
हस्तक्षेप	: **फतवा के दर्द की दास्तां**/अनंत विजय	63

नवलकिशोर प्रेस, रकाबगंज, लखनऊ और मुंशी नवलकिशोर भार्गव

पिछले दिनों मुझसे एक साहित्यिक अपराध हुआ, जिसके लिए मैं बेहद शर्मिंदा हूं। और 'पुस्तक-वार्ता' के विद्वत् और सुधी पाठकों से सार्वजनिक रूप से क्षमा-याचना करता हूं। प्रसिद्ध इतिहासकार ई. एच. कार ने 'ह्वाट इज हिस्ट्री' में स्पष्ट लिखा है कि इतिहास का एक क्रम होता है, यह नहीं कि इतिहास को कहीं से उठा लें। इस पत्रिका के पिछले अंक-43 (नवम्बर-दिसम्बर, 2012) का संपादकीय जब मैं 'खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना और बाबू रामदीन सिंह' लिख रहा था, मुझे सहसा इस बात का अहसास हुआ कि इसके पहले मुझे नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ पर लिखना चाहिए था। लेकिन चूंकि संपादकीय लिखने की पूरी तैयारी कर चुका था, पीछे हटना मुश्किल था। नवलकिशोर प्रेस को मैं भूला नहीं। इस बीच एक सुखद संयोग यह हुआ कि एक साहित्यिक आयोजन में मुझे लखनऊ जाने का शुभ अवसर मिला और कार्यक्रम स्थल आते-जाते मुंशी नवलकिशोर पार्क के सामने से गुजरते हुए हिंदी के इस महान उन्नायक के प्रति सर झुकाया। मन-ही-मन यह सोचकर आह्लादित हुआ कि लखनऊ शहर ने मुंशी जी की स्मृति को जीवंत रखा है। क्या बिहार सरकार भी कभी इसी तरह खड्गविलास प्रेस, पटना के प्रणेता बाबू रामदीन सिंह के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करेगी? 'जो नहीं है, उसका गम क्या, जैसे सुरुचि'।

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ हिंदी का पहला प्रेस नहीं था, जैसा कि अज्ञानतावश कृष्णप्रताप सिंह ने पाक्षिक 'द पब्लिक एजेंडा' के 31 अगस्त, 2011 अंक में लिखा है। लेकिन इस अर्थ में हिंदी का सबसे पहला अग्रणी प्रेस अवश्य था, जिसने हिंदी के प्रसार और प्रचार के लिए न केवल पाठ्य-पुस्तकें तैयार कीं, बल्कि अनेक साहित्यिक पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। भारत में हिंदी मुद्रण और प्रकाशन का इतिहास लगभग दो सौ वर्ष पुराना है। वैसे भारत के गोवा प्रदेश में सबसे पहले प्रेस की स्थापना 6 दिसम्बर, 1556 ई. में ही हो गई थी। लेकिन उसकी संख्या में वृद्धि 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई। इसके पीछे दो मुख्य कारण थे—भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना के बाद ईसाई मिशनरियों का आवागमन शुरू हुआ। उनके प्रयास से भारत के अनेक शहरों में प्रेस की स्थापना हुई और ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने धार्मिक ग्रंथ 'बाईबिल' का प्रमुखता से प्रकाशन किया। दूसरा कारण था—ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों को देशी भाषा का ज्ञान कराना। कंपनी के लिए यह एक अत्यंत आवश्यक काम था, जिसे उसने विभिन्न प्रेसों की स्थापना करके किया।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के जन्म के कई वर्षों बाद और उनके निधन के कुछ वर्षों पूर्व आधुनिक हिंदी की अलख जगाने में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (1858) और खड्ग विलास प्रेस, पटना की ऐतिहासिक भूमिका है। 1857 ई. का विद्रोह आधुनिक भारत के इतिहास में एक 'लैंडमार्क' है, जिसे कार्लमार्क्स ने 'फर्स्ट वार ऑफ इंडियन इंडिपेंडेस' कहा था। गौर करने की बात यह है कि दिल्ली के आखिरी मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर की हार और कैद करके बर्मा भेजे जाने (देखें विलियम डेलरिम्पल की पुस्तक 'दि लास्ट मुगल') के बाद भी लखनऊ में वाजिद अली शाह के नेतृत्व में लड़ाई चलती रही और मार्च, 1858 ई. में अवध भी अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। यह विडम्बना है कि इसी हलचल भरे अस्थिरता के दौर में मुंशी नवलकिशोर भार्गव ने 23 नवम्बर, 1858 ई. को लखनऊ में नवलकिशोर प्रेस की स्थापना की।

नवलकिशोर प्रेस के संस्थापक मुंशी नवलकिशोर का जन्म 3 जनवरी, 1836 ई. में दिल्ली शासकों के अनुग्रह पाने वाले आगरा-अलीगढ़ के एक ब्राह्मण परिवार में यशोदा देवी और यमुनाप्रसाद के दूसरे बेटे के रूप में हुआ था। उनके पितामह बालमुकुंद भार्गव मुगल बादशाह शाहआलम के कोतवाल थे। उनके पिता यमुनाप्रसाद भार्गव अलीगढ़ के सासनी ग्राम के जमींदार थे। ऐसे अभिजात कुल में नवलकिशोर का जन्म उनके ननिहाल मथुरा जिले के रोड़ा ग्राम में हुआ। वे प्रतिभासंपन्न थे। उन्होंने आगरा कॉलेज से फारसी और अंग्रेजी की पढ़ाई पूरी करने के बाद अल्पवय में उर्दू के पत्र 'अकीर आगरा' में लिखना शुरू कर दिया था। उनकी प्रतिभा और रुझान को देखते हुए उनके पिता यमुनाप्रसाद ने उन्हें अपने लाहौर के मित्र मुंशी हरसुख राय के यहां भेज दिया। वे वहां लाहौर में कोहिनूर नाम से प्रेस चलाते थे और इसी नाम से उर्दू का अखबार भी निकालते थे। नवलकिशोर ने थोड़े ही समय में अपनी लग्नशीलता, परिश्रम, उद्यम, कर्तव्यनिष्ठा और कल्पनाशीलता से हरसुख राय का दिल जीत ही नहीं लिया, बल्कि अपनी अटूट निष्ठा के कारण मैनेजर का

पद भी पा लिया। वे अपने मालिक से इतने प्रभावित थे कि अपने नाम के आगे मुंशी भी उनके सम्मान में लगा लिया। कहते हैं कि एक फौजदारी के मामले में मुंशी हरसुख राय को तीन साल की सजा हुई थी। उनकी अनुपस्थिति में प्रेस को जिस तरह उन्होंने संभाला, जेल से छूटकर आने के बाद उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उन्होंने एक हैंडप्रेस उपहार में दे दिया। 23 नवम्बर, 1858 को इसी छोटी मशीन से उन्होंने लखनऊ के वजीरगंज में नवलकिशोर प्रेस की स्थापना कर दी। बाद में यह प्रेस स्थान बदलकर गोलागंज और फिर रकाबगंज होते हुए हजरतगंज पहुंचा। और लगभग 96 वर्षों तक हिंदी संसार को अपने प्रकाशन और अखबार से प्रदीप्त करता रहा।

मुंशी नवलकिशोर का प्रेस 19वीं सदी के छठे दशक में उत्तर भारत का सबसे बड़ा मुद्रण और प्रकाशन केन्द्र था। वे वस्तुतः हिंदी नवजागरण के ही अग्रदूत नहीं थे, पाठ्य-पुस्तकों और साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन करके उन्होंने तब के अल्पभाषी हिंदी समाज में राजनीतिक चेतना का विस्तार किया था। यह सचमुच हिंदी के लिए गर्व और गौरव की बात है कि नवलकिशोर प्रेस की ख्याति पूरी दुनिया में फैल गई थी। पूरी दुनिया में इसकी प्रसिद्धि दूसरे नम्बर पर थी। उस समय दुनिया का सर्वश्रेष्ठ प्रेस पेरिस का 'अल्पाइन प्रेस' था। इस प्रेस ने अपने जीवनकाल में लगभग पांच हजार ग्रंथों का प्रकाशन किया, जिनमें 2612 ग्रंथों का प्रकाशन लखनऊ से हुआ। कालिदास सहित संस्कृत की कालजयी पुस्तकों के हिंदी अनुवाद इस प्रेस से निकले। महाभारत का हिंदी गद्यानुवाद 7,284 पृष्ठों में था। इस प्रेस की देश के विभिन्न हिस्सों में 10 शाखाएं थीं। इसी प्रेस को यह श्रेय जाता है कि इसने पहली बार मुकम्मल रूप से 'कुरान' छापी, जिसके बाद में 17 से अधिक संस्करण निकले। 'कुरान' की पचास से ज्यादा टीकाएं निकलीं। इसी प्रेस को यह गौरव है कि 'कुरान' छापकर इसने ऐसा बड़ा काम किया, जिसे किसी इस्लामी देश ने नहीं किया। नवलकिशोर प्रेस एक बड़ा प्रकाशन संस्थान था, जिसके 1200 कर्मचारी थे और जिसका सालाना डाकखर्च 50 हजार रुपए था। इसकी प्रसिद्धि से प्रभावित डाकविभाग ने ठीक प्रेस के बगल में जनरल पोस्ट ऑफिस खोला था। इस प्रेस को 25 हजार से ज्यादा चिट्ठियां हर साल मिलती थीं। इस प्रेस ने जनहित में देश में 33 पुस्तकालय स्थापित किए थे। इस प्रेस ने 1871 में इंग्लैंड से एक लाख इकतीस हजार रुपए के कागज खरीदे थे और बाद में लखनऊ में ही पेपर मिल की स्थापना की।

मुंशी नवलकिशोर को प्रेस से प्रसिद्धि मिली और सामाजिक जीवन में यश भी। वे इलाहाबाद कॉलेज के फेलो और लखनऊ में सर्वप्रथम स्थापित नगरपालिका के सदस्य मनोनीत हुए। उन्होंने आगरा कॉलेज, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, ट्रेनिंग कॉलेज, लखनऊ को दान देकर शिक्षा के प्रचार-प्रसार में सहायता की। उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर सन् 1877 ई. में सरकार ने उन्हें 'कैसर-ए हिंद' तथा बाद में सी.आई.ई. की उपाधि से अलंकृत किया। 19 फरवरी, 1895 ई. में उनका लखनऊ में देहांत हुआ और उनकी अन्त्येष्टि इलाहाबाद में हुई।

मुंशी नवलकिशोर में कल्पनाशीलता ही नहीं थी, उनका 'विजन' भी विराट था। 'अवध अखबार' उर्दू में लखनऊ से छपता था। अंग्रेज उनके मित्र थे। लेकिन इस अखबार में अंग्रेजों के अत्याचार की खबर वे प्रमुखता से छापते थे। इस प्रेस ने जिस तरह हिंदी की सेवा की, खड्ग विलास प्रेस, पटना को छोड़कर मेरे सामने कोई दूसरा उदाहरण नहीं है। उर्दू के मशहूर शायर ग़ालिब ने नवलकिशोर प्रेस की सेवाओं की सराहना करते हुए लिखा—'हाय! लखनऊ के छापेखाने ने जिसका दीवान छापा, उसको जमीन से आसमान पर चढ़ा दिया, हुस्ने-वत से अलफाज को चमका दिया।' 'हिंदी प्रकाशन के इतिहास में इस संस्थान ने अकेले जितना काम किया है उतना भारतीय भाषाओं की किसी भी प्रकाशन-संस्था ने अब तक नहीं किया।' (डॉ. धीरेन्द्र प्रसाद सिंह, आधुनिक हिंदी के विकास में खड्ग विलास प्रेस की भूमिका', पृ. 67)

इस प्रकाशन संस्थान से प्रकाशित पुस्तकों की सूची पर आप गौर करें तो निश्चित रूप से आपको हैरानी होगी। प्रमुख पुस्तकें—अलिफ लैला, उमरावजान अदा, फतवा आलम हरीरी, अकबरनामा, जहांगीर-नामा, शिशुपाल-वध, कुमारसंभव, भक्तमाल, आल्हाखंड, बैताल पच्चीसी और 'इंदरसभा' के अतिरिक्त तुलसीदास, सूरदास, मीरा, कबीर, वल्लभाचार्य, चरणदास, कालिदास और माघ आदि की अनेक रचनाएं हैं। उर्दू, हिंदी, अरबी, फारसी, संस्कृत, गुरमुखी, पश्तो, मराठी, बांग्ला, गुजराती, उड़िया और अंग्रेजी की कोई साढ़े पांच हजार पुस्तकें इस प्रेस ने मुंशी जी के जीवन काल में प्रकाशित कीं। उर्दू के प्रख्यात साहित्यकार अब्दुल हलीम 'शरर' ने लिखा है कि मुंशी जी की बदौलत उन दिनों मध्य एशिया से लेकर बुखारा और अफगानिस्तान से ईरान तक की फारसी-अरबी की दुर्लभ पुस्तकों की सारी मांग लखनऊ ही पूरी कर रहा था।

मुंशी जी बेहद पढ़े-लिखे बहुभाषी थे। लेकिन वे जीवन भर कांग्रेस के विरोधी रहे। लेकिन जब सन् 1888 ई. में सर सैयद अहमद ने कांग्रेस को 'हिंदू संस्था' घोषित किया तो मुंशी जी ने उनसे कहा था कि वे कांग्रेस के विरोध को सांप्रदायिक मोड़ देकर हिंदू-मुस्लिम भेद बढ़ाने से बाज आएं। हिंदी के इन तपःपूतों की स्मृतियों को नमन करते हुए मैं कुलपति वि. ना. राय से आग्रह करता हूं कि इन दोनों के नाम पर पथ का नामकरण नहीं करके विश्वविद्यालय में इनकी मूर्ति स्थापित करें और इनके नाम पर चेयर की स्थापना करके व्याख्यानमाला चलाएं।

इस बीच हमसे बिछुड़े सितार सम्राट रविशंकर और 'कालकथा' जैसे उपन्यास के लेखक कामतानाथ के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि।

मेरा आनंदधाम

हरदयाल

मैं उत्तर प्रदेश के बदायूं जिले के जगत नामक गांव के एक निरक्षर कृषक परिवार में जन्मा। यह गांव स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व भी ऐसा गांव था, जिसमें शिक्षा का महत्त्व समझा जाता था। इस गांव में पहले प्राइमरी स्कूल था और बाद में जूनियर हाई स्कूल भी खुल गया। अब यह गांव कसबे जैसा हो गया है और अंग्रेजी माध्यम का एक पब्लिक स्कूल भी चल रहा है। सेना से सेवानिवृत्त मेरे चाचा भी शिक्षा का महत्त्व जानते थे। उनका जोर दो बातों पर था—शिक्षा और स्वास्थ्य। स्वास्थ्य के लिए मुझे और मेरे अग्रज को जबरदस्ती नियमित रूप से दूध पिलाया जाता, घी खिलाया जाता और कसरत करवाई जाती। साथ ही पढ़ने के लिए नियमित स्कूल भेजा जाता। मेरे अग्रज छठी कक्षा से आगे नहीं बढ़ सके, क्योंकि पढ़ने में उनका मन नहीं लगता था। हां, कसरत और कुश्ती में उनका मन खूब रमता था। इसलिए वे जिला स्तर के पहलवान तो बन गए, लेकिन सफल कृषक नहीं बन पाए। मेरी कसरत और पहलवानी में कोई रुचि नहीं थी, लेकिन पुस्तकें पढ़ने में मेरा मन खूब रमता था। उस समय मेरे लिए पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त और पाठ्यक्रमेतर पुस्तकें सुलभ नहीं थीं।

पाठ्य-पुस्तकों में जो साहित्यिक अंश संकलित होते और जिनमें मेरा मन रमता, उनको मैं पूरे विस्तार के साथ पढ़ने के लिए बेचैन रहता। मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरी आठवीं की अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तक में 'द होली बाइबिल' का 'सरमॅन ऑन द माउंट' संगृहीत था। इसकी भाषा और इसमें उपदिष्ट बातें मुझे इतनी अच्छी लगीं कि पूरी बाइबिल प्राप्त कर उसे पढ़ने का मन करने लगा। बाद में मैंने इस दिशा में अनेक प्रयत्न किए, जिनके फलस्वरूप छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में बाइबिल के कुछ अंश तो मिले, परन्तु पूरी बाइबिल नहीं। अनेक वर्षों बाद जब मैं अपनी पी-एच.डी. के शोध-प्रबंध के लिए सामग्री-संकलन के लिए जोधपुर में दो बार तीन-तीन महीने रहा तो वहां मुझे एक पुस्तक-विक्रेता के यहां पूरी बाइबिल मिली और 16 जून, 1963 को वह मैंने खरीदी। यह मेरे पास आज भी सुरक्षित है। साथ ही मैंने इसका हिन्दी अनुवाद 'धर्मशास्त्र' और आधुनिक अंग्रेजी में इसका अनुवाद भी खरीदा। अपने शोध-प्रबन्ध के संदर्भ में ही मुझे 'कुरुआन शरीफ' की जरूरत पड़ी और मैंने उसका अंग्रेजी अनुवाद खरीदा।

पुस्तकों का महत्त्व, जैसे-जैसे मैं छात्र-जीवन की अगली सीढ़ियां चढ़ता गया, समझ में आता गया। इंटरमीडिएट की अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तक में महान क्रांतिकारी, स्पृहणीय बौद्धिक लाला हरदयाल की पुस्तक 'हिंट्स फॉर सैल्फ कल्चर' का एक अंश 'इंटलैक्चुअल कल्चर' संगृहीत था। इसने मुझे बेहद प्रभावित किया और इस पुस्तक को प्राप्त करने के लिए भी मैं बेचैन हो उठा। यह मुझे मिली आगरा में और इसे मैंने 2 दिसंबर, 1961 को खरीदा। तब मैं एम.ए. करने के बाद प्राध्यापक बन चुका था और बलवंत विद्यापीठ रूरल

इंस्टीट्यूट, बिचपुरी, आगरा में पढ़ा रहा था। 'इंटलैक्चुअल कल्चर' में लाला हरदयाल ने बौद्धिक विकास के कुछ मंत्र सुझाए हैं, जिनको मैंने अपने जीवन में अपनाया। जैसे, प्रतिदिन अपने समय का कुछ भाग अध्ययन के लिए रखना, पुस्तक-विक्रेताओं से नई तथा पुरानी पुस्तकों की खोज करना, सार्वजनिक पुस्तकालयों से पुस्तकें लेकर उन्हें पढ़ना और समय से लौटाना, जो कुछ पढ़ें, उसके नोट्स लेना, अपनी आय का कुछ हिस्सा पुस्तकों और पत्रिकाओं के क्रय के लिए रखना, साहित्यिक संस्थाओं का सदस्य बनना, संगोष्ठियों में भाग लेना इत्यादि। इनमें से सभी को मैंने अपना लिया और धीरे-धीरे ये चीजें मेरी आदतें बन गईं। शायद ही कोई ऐसा दिन होता होगा जिस दिन मैं कुछ भी न पढ़ता होऊं। सुबह की चाय के साथ मुझे पढ़ने के लिए कोई-न-कोई पुस्तक या पत्रिका चाहिए। शहर के प्रमुख पुस्तक-विक्रेताओं के यहां भटकने की आदत भी अभी तक बनी हुई है। जो पुस्तकें मैं पढ़ता हूं, उनके महत्त्वपूर्ण अंशों को रेखांकित करता हूं। इस रेखांकन का महत्त्व आगरा में बी.ए. में अंग्रेजी साहित्य पढ़ाने वाले मेरे एक गुरुजन ने हमें समझाया। उनकी कक्षा में अंग्रेजी साहित्य विषय लेने वाले छात्रों के लिए 'द लिटिल ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑफ करेंट इंग्लिश' लाना भी अनिवार्य था और अपरिचित शब्दों का अर्थ छात्रों को कक्षा में ही स्वयं खोजना पड़ता था। मैंने भी यह डिक्शनरी तभी खरीदी थी और आज भी यह मेरे पास सुरक्षित है। इंटरमीडिएट में पाठ्य-पुस्तक के रूप में निर्धारित बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी के प्रो. एन. एम. कुलकर्णी द्वारा संपादित ओलीवर गोल्डस्मिथ का 'द ट्रैवलर' काव्य, रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' और गुलाब राय द्वारा संपादित हिंदी काव्य की पाठ्य-पुस्तक मेरे पास हैं।

जब मैं आगरा में 1957 में बलवंत राजपूत कॉलेज में बी.ए. के छात्र के रूप में

आया तो मेरा पुस्तक-प्रेम और बढ़ गया। इस कॉलेज का संपन्न पुस्तकालय छात्रों-अध्यापकों के लिए सुबह सात बजे से रात के ग्यारह बजे तक खुला रहता था। तमाम पत्रिकाएं अध्ययन-कक्ष में रखी रहती थीं। पुस्तकालय के मुख्य द्वार पर बने 'कबूतरखानों' में अपनी पुस्तकें रखकर और नोट्स लेने के लिए कागज लेकर छात्रों को पुस्तकालय में अंदर जाकर कोई भी पुस्तक लेकर पढ़ने की छूट थी। कुछ छात्र इस छूट का लाभ उठाकर पुस्तकें चुराते भी थे। जब पुस्तकालय अध्यक्ष ने इसे रोकने के लिए प्रधानाचार्य डॉ. आर. के. सिंह के सामने छात्रों को पुस्तकालय में बेरोकटोक घुसने-घूमने पर नियंत्रण लगाने की बात कही तो उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। उनका तर्क था कि चोरी गई पुस्तकों से जितनी आर्थिक क्षति होती है, उससे कहीं अधिक बौद्धिक लाभ पढ़ने वाले छात्रों को होता है। इससे मुझे पत्रिकाएं पढ़ने और पाठ्यक्रमेतर पुस्तकें पढ़ने की आदत पड़ी। 'कल्पना', 'अजंता', 'साहित्य संदेश' जैसी पत्रिकाओं को मैं पूरा-का-पूरा पढ़ जाता। 'कल्पना' का पाठक तो मैं तब से लेकर उसके अंतिम अंक तक बना रहा।

आगरा में बी.ए. में पढ़ते समय लिखने का चस्का भी मुझे लग गया था। कॉलेज की साल भर में दो अंक प्रकाशित करने वाली पत्रिका के, मेरे छात्र काल में प्रकाशित, प्रत्येक अंक में मेरी कोई-न-कोई रचना प्रकाशित हुई थी। साहित्यिक लेखन को लेकर भी जो प्रतियोगिताएं होती थीं, उनमें भी मेरी रचनाएं पुरस्कृत होती थीं। नियम यह था कि पुरस्कार-राशि नकद न देकर पुरस्कृत होने वाले छात्र को उसकी चुनी हुई पुस्तकें पुरस्कारस्वरूप दी जाती थीं। इस प्रकार पुरस्कारों के रूप में भी मुझे अनेक पुस्तकें मिलीं। उदाहरण के लिए, एकांकी नाटक प्रतियोगिता के प्रथम पुरस्कार के रूप में रामचंद्र शुक्ल की विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'चिंतामणि' (द्वितीय भाग) और कहानी प्रतियोगिता के प्रथम पुरस्कार के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' मिला।

आगरा में बी.ए. में पढ़ते समय मैं बालूगंज में रहता था और वहां से उस समय का लगभग पूरा आगरा पैदल पार करता था। खाना छीपी टोला के एक होटल में खाता था। छीपी टोला के ही कबाड़ी बाजार में पुरानी पुस्तकों की खोज में चक्कर काटता था। इस कबाड़ी बाजार में मुझे मुख्यतः अंग्रेजी की और अपवादस्वरूप हिंदी की कुछ अत्यंत दुर्लभ पुस्तकें मिलीं। उदाहरण के लिए, मैं केवल दो पुस्तकों का उल्लेख करना चाहूंगा। एक पुस्तक है जनप्रकाशन गृह, बंबई से प्रकाशित डॉ. रामविलास शर्मा की 'निराला' का फरवरी, 1948 में प्रकाशित संस्करण। उस समय इसका मूल्य सवा दो रुपए था। मैंने वहां से इसे कितने में खरीदा, याद नहीं। दूसरी पुस्तक है राबर्ट ब्राउनिंग के काव्य नाटकों का संग्रह 'पीपा पासिस एंड अदर पोयटिक ड्रामाज' (Pippa Passes And Other Poetic Dramas)। इसकी भूमिका फ्रैंक रिंडर ने लिखी है। यह पुस्तक लिली लोन ने मि. मार्शल को 3 जून, 1894 को भेंट की थी। इसे लंदन के वाल्टर स्कॉट लिमिटेड ने प्रकाशित किया था। इसे मैंने आठ आने में खरीदा था और एक रुपए की इस पर जिल्द चढ़वाई थी। इसकी दुर्लभता के साथ एक घटना जुड़ी है। श्यामलाल कॉलेज, शाहदरा, दिल्ली की सांध्य कक्षाओं में अंग्रेजी के प्राध्यापक श्री आर. सी. कपूर दिल्ली विश्वविद्यालय से ब्राउनिंग के काव्यनाटकों पर पी-एच.डी. की उपाधि के लिए शोध-कार्य कर रहे थे। उन्होंने ब्राउनिंग के उक्त काव्यनाटकों के संग्रह को बहुत खोजा, लेकिन यह उन्हें कहीं से मिला नहीं। एक दिन यों ही उन्होंने अपनी इस परेशानी की चर्चा मुझसे की। मैंने उन्हें सूचित किया और उन्हें यह पुस्तक इस निवेदन के साथ दी कि पुस्तक बहुत पुरानी है, इसका कागज बहुत जर्जर है। इसलिए वे न तो इसका कोई पेज मोड़ें, न इस पर कुछ लिखें या किन्हीं अंशों को रेखांकित करें। उन्होंने पी-एच.डी. तो पूरी नहीं की। हां, इस पर तीन जगह अपना नाम अवश्य लिख दिया और एक-दो पेज भी मोड़ दिए, जिन्हें किसी तरह मैंने जोड़ा। इसलिए मुझे इस प्रकार की दुर्लभ पुस्तकें किसी को देते हुए संकोच होता है।

पुरानी पुस्तकों को खोजने और खरीदने की यह जो आदत आगरा में पड़ी, वह दिल्ली में भी बनी रही। दिल्ली में भी रविवार के दिन दरियागंज के फुटपाथ पर पुरानी पुस्तकों और पत्रिकाओं की बिक्री के लिए जो बाजार लगता है, कई वर्ष तक उसके चक्कर भी मैंने काटे। वहां भी मुझे कुछ दुर्लभ और अनूठी पुस्तकें मिलीं, जिनको लेकर किसी भी पुस्तक-प्रेमी को ईर्ष्या हो सकती है। ऐसी ही एक पुस्तक है अज्ञेय के काव्य-संग्रह 'इत्यलम्' का 1946 में प्रतीक प्रकाशन केंद्र, पोस्ट बॉक्स-62, दिल्ली से प्रकाशित पहला संस्करण। जो प्रति मैंने खरीदी वह अज्ञेय ने श्रीचंद्र जी को 1 जनवरी, 1947 को 'स्नेहपूर्वक' भेंट की थी। 'इत्यलम्' की यह प्रति दुर्लभ ही मानी जाएगी।

मैंने 1961 में हिंदी में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की और उसी वर्ष 11 अगस्त से पहले बी.ए. की और दो वर्ष बाद एम.ए. की कक्षाएं पढ़ानी प्रारंभ कर दीं। अध्यापन के साथ ही लिखना भी शुरू कर दिया और मेरी रचनाएं हिंदी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में नियमित रूप से छपने लगीं। साथ ही पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त करने के लिए शोधकार्य में भी प्रवृत्त हुआ। अब मुझे पुस्तकें अपनी पढ़ने की प्रबल प्रवृत्ति के लिए, छात्रों को पढ़ाने के लिए, अपने आलोचनात्मक-वैचारिक लेखन के लिए और शोध-कार्य के लिए अनिवार्य हो गईं। छात्र-जीवन की अपेक्षा अब पुस्तकें खरीदने के लिए पैसा भी अधिक था। अपने कॉलेज के पुस्तकालय के अतिरिक्त मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के केंद्रीय पुस्तकालय और दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी का सदस्य भी बन गया। कुछ वर्ष तक मुझे दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी का एक परामर्शदाता भी बनाया गया। मैं इन पुस्तकालयों से मनचाही पुस्तकें ले सकता था, लेकिन मनचाही पुस्तकें खरीदने की आदत से भी मजबूर था। इसलिए पुस्तकें खरीदने का क्रम भी जारी रहा।

मैंने न तो अपने छात्र-जीवन में और न ही अपने अध्यापकीय जीवन में पढ़ने-पढ़ाने के लिए कुंजियों का सहारा लिया। इसलिए बहुत जल्दी संदर्भ-ग्रंथों का महत्त्व मेरी समझ में आ गया। मैंने क्रमशः अंग्रेजी, हिंदी, संस्कृत, उर्दू, पाली भाषाओं के अनेक शब्दकोश, पारिभाषिक कोश, साहित्यकोश, इतिहासकोश तथा उसी तरह के अन्य कोश खरीदे। हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, पाली, उर्दू के रचनाकारों की तमाम मौलिक और उन पर आलोचनात्मक पुस्तकें मेरे निजी पुस्तकालय में बराबर जुड़ती गईं और आज भी जुड़ रही हैं। कुछ रचनाकारों की ग्रंथावलियां भी मेरे निजी पुस्तकालय में हैं।

अगर कोई निष्ठापूर्वक अध्यापन करता है तो उसके लिए नित्य नई पुस्तकों की

आवश्यकता किस प्रकार पड़ती है, इसे कोई भी निष्ठावान अध्यापक जानता है। मैं अपने अनुभव का केवल एक उदाहरण दूंगा। जब 1973 में साउथ एक्सटेंशन में स्थापित दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर में एम.ए. की कक्षा पढ़ाने के लिए मुझे दी गई तो मुझे हिंदीतर भाषाओं के चार उपन्यासों का पूरा प्रश्नपत्र दे दिया गया। ये चार उपन्यास थे रवींद्रनाथ टैगोर का 'गोरा', हरिनारायण आप्टे का 'कौन ध्यान देता है', थॉमस हार्डी का 'टैस डीउर्वरविलेस' और तोल्स्तोय का 'वार एंड पीस'। इनमें से 'गोरा' और 'कौन ध्यान देता है' के साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित हिंदी अनुवाद खरीदे। 'टैस...' मेरे पास बी. ए. में पढ़ते समय से ही था। कारण, हार्डी का 'मेयर ऑफ कैस्टरब्रिज' मेरे बी.ए. के अंग्रेजी साहित्य की पाठ्य-पुस्तक थी, जिसे मैंने बार-बार पढ़ा और उसके करुण प्रसंगों ने मेरी आंखों में बार-बार आंसू भरे। इसी से प्रेरणा लेकर मैंने हार्डी के अन्य उपन्यास भी कॉलेज के पुस्तकालय से लेकर और 'टैस...' खरीदकर पढ़ा। तोल्स्तोय के 'वार एंड पीस' का पेंग्विन बुक्स से दो जिल्दों में प्रकाशित अंग्रेजी अनुवाद खरीदा। तब से लेकर अब तक 'वार एंड पीस' तो एक ही बार पढ़ पाया हूं। हां, अन्य उपन्यास एकाधिक बार पढ़ चुका हूं। अध्यापन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए मैंने हिंदी साहित्य के प्रायः सभी प्रमुख इतिहास, विभिन्न भारतीय भाषाओं के सभी सुलभ साहित्येतिहास और अंग्रेजी तथा फ्रेंच भाषाओं के साहित्येतिहास भी खरीद लिए।

अपने दोनों शोध-प्रबंधों के अतिरिक्त मुझे संदर्भ ग्रंथों में प्रविष्टियां लिखने के लिए, हिंदी साहित्येतिहासों के सहयोगी तथा स्वतंत्र लेखन के लिए तमाम पुस्तकों की आवश्यकता पड़ी। साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'एंसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन लिट्रेचर' में मेरी लिखी अनेक प्रविष्टियां हैं। डॉ. नगेंद्र ने 'हिंदी साहित्य संदर्भकोश' के लिए मुझसे अनेक टिप्पणियां लिखवाईं। दुर्भाग्यवश डॉ. नगेंद्र के निधन के कारण यह संदर्भग्रंथ प्रकाश में नहीं आ सका। शीघ्र ही प्रकाश्य 'लघु हिंदी विश्वकोश' (केंद्रीय हिंदी संस्थान द्वारा आयोजित) में बहुत सारी प्रविष्टियां मैंने लिखी हैं। मैंने अपने छात्र-जीवन में और अध्यापन के प्रारंभ में नई प्रवृत्ति के साहित्येतिहास की आवश्यकता का अनुभव किया था। इसी के परिणामस्वरूप मेरी 'आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य' (1972) और 'आधुनिक हिंदी कविता' (1993) शीर्षक पुस्तकों की रचना हुई। नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा 16 खंडों में प्रकाशित 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास' के बारहवें खंड के लिए 'रोमानी-ऐतिहासिक कहानी' शीर्षक अध्याय लिखने के लिए मैंने जितने के कहानी-संग्रह खरीदे उतना पारिश्रमिक भी नहीं मिला। डॉ. नगेंद्र के द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के पुनःसंपादन और उसे अद्यतन (1981 से 2005) बनाने के लिए मैंने जो पांच वर्ष लगाए, उसके श्रम के अतिरिक्त मुझे कितनी पुस्तकों और पत्रिकाओं की फाइलों की आवश्यकता पड़ी होगी, इसकी कल्पना कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है। इधर साहित्य अकादेमी स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का जो संपादित इतिहास निकाल रही है, उसमें भी 1947 से 1980 तक की हिंदी कविता का इतिहास अंश लिखने का अवसर मुझे मिला है।

साहित्यिक लेखन के लिए दुर्लभ पुस्तकों को प्राप्त करने के लिए बहुत भटकना पड़ता है। मुझे हंसराज रहबर की पुस्तक 'प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व' के नए संस्करण (2006) की भूमिका लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरी सूचना थी कि प्रेमचंद पर पहली आलोचनात्मक पुस्तक 1941 में प्रकाशित डॉ. रामविलास शर्मा की 'प्रेमचंद' थी। इसे लिखवा लेने का श्रेय प्रेमचंद जी के ज्येष्ठ पुत्र श्रीपत राय को था। यह डॉ. रामविलास शर्मा की भी पहली प्रकाशित आलोचनात्मक पुस्तक थी। हुआ यह कि जब रामविलास शर्मा किसी आयोजन में बनारस गए तो श्रीपत राय से मिले। इसी मिलन के समय श्रीपत जी ने प्रेमचंद की सारी पुस्तकों का सैट उन्हें भेंट किया और कहा कि यदि संभव हो तो वे प्रेमचंद पर एक आलोचना-पुस्तक लिखें। शर्मा जी ने 'प्रेमचंद' पुस्तक लिखी और श्रीपत जी ने अपने प्रकाशन सरस्वती प्रेस, बनारस से छापा। यह श्रीपत जी की अपनी विशिष्टता थी। मैं भी जब दिल्ली में उनके निकट संपर्क में आया तो मुझे भी सरस्वती प्रेस से छपी न केवल प्रेमचंद की, बल्कि उनके द्वारा प्रकाशित अन्य लेखकों की पुस्तकें भी भेंटस्वरूप मिलीं। उन्होंने मेरी भी चार पुस्तकें छापीं। रामविलास शर्मा की 'प्रेमचंद' पुस्तक प्रेमचंद पर पहली आलोचनात्मक पुस्तक है, मेरे इस भ्रम को तोड़ा भारत भारद्वाज ने। उन्होंने मुझे न केवल यह सूचना दी कि प्रेमचंद पर पहली आलोचनात्मक पुस्तक जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' की 'प्रेमचंद की उपन्यास-कला' शीर्षक पुस्तक है, जो दिसंबर, 1933 में वाणी मंदिर, छपरा (बिहार) से प्रकाशित हुई थी, बल्कि यह पुस्तक मुझे पढ़ने के लिए भी दी। अगर उन्होंने यह पुस्तक मुझे सुलभ न कराई होती तो रहबर जी की पुस्तक की भूमिका में मैं यह तथ्यात्मक भूल कर बैठता। इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि किसी भी लेखक के लिए पुस्तकों के संबंध में न केवल सूचनाएं, अपितु उनकी सुलभता कितनी महत्त्वपूर्ण होती है। लेखन के लिए पुस्तकों के उसी महत्त्व को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने लिए संपूर्ण महाभारत, बाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, सभी उपनिषद्, दर्शन और काव्यशास्त्र की लगभग सभी संस्कृत पुस्तकें, चाणक्य का 'अर्थशास्त्र', स्वदेशी-विदेशी इतिहासकारों, दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों आदि की तमाम पुस्तकें खरीदकर अपने निजी पुस्तकालय में रखी हैं।

पुस्तक-समीक्षक के रूप में जो शुरुआत मैंने 'लहर' से की, उसका क्रम आगे बढ़ता गया। 'लहर' के बाद 'कल्पना', 'कहानी', 'संचेतना', 'समीक्षा', 'प्रकर', 'भाषा', 'आजकल', 'समकालीन भारतीय साहित्य', 'विश्व भारती पत्रिका', 'पुस्तक-वार्ता' आदि अनेक पत्रिकाओं से समीक्षक के रूप में जुड़ा और आज भी जुड़ा हुआ हूं। पुस्तक-समीक्षा के माध्यम से मेरे पास विभिन्न विधाओं की तमाम नवीनतम पुस्तकें आती रहती हैं और मेरा निजी पुस्तकालय पुस्तकों और पत्रिकाओं से भरता रहता है। आज मेरे पास पुस्तकों और पत्रिकाओं का इतना भंडार है कि उन्हें संभालना दुष्कर होता जाता है, लेकिन यह दुष्करता भी सुखद है, क्योंकि ये पुस्तकें और पत्रिकाएं जो सुख मुझे देती हैं वह और किसी चीज से मुझे नहीं मिल पाता। मैं बिना पढ़े-लिखे नहीं रह सकता। इसलिए मेरे घर को हजारों पुस्तकों के भंडार ने मेरे लिए आनंदधाम बना दिया है और यह आनंदधाम नित्यप्रति और संपन्न होता जाता है। इस आनंदधाम का आनंद मैं तब तक लेता रहूंगा जब तक मेरा तन-मन मेरा साथ देगा।

एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, पो. गोकुलपुरी, दिल्ली-110094, मो. 09871328269

परिवर्तनकारी समाज का महाख्यान : सात फेरे

देवेंद्र कुमार देवेश

'सात फेरे' लोकप्रिय हिंदी कथाकार चंद्रकिशोर जायसवाल का वृहदाकार उपन्यास है। इसके पूर्व उनके सात उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। उनका एक अन्य उपन्यास 'चिरंजीव' (2002) भी अपने वृहदाकार के लिए खासा चर्चित रहा है। बालमनोविज्ञान के सूक्ष्म और विस्तृत चित्रण की दृष्टि से वह उपन्यास हिंदी की औपन्यासिक दुनिया में एकमात्र सार्थक हस्तक्षेप है। आकार की चर्चा इसलिए कि उपन्यास में कथ्य के पर्याप्त दुहराव के बावजूद 'चिरंजीव' को समीक्षकों/आलोचकों की वह उपेक्षा नहीं मिली थी, जो 'सात फेरे' उपन्यास को भारतीय ज्ञानपीठ जैसे प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्थान द्वारा वर्ष (2009) में प्रकाशित होकर भी मिली है। 'सात फेरे' को प्रकाशित हुए तीन वर्ष होने को आए, पुस्तक का दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है, संभवतः तीसरे की तैयारी हो; लेकिन अभी तक पत्र-पत्रिकाओं में इसकी तीन समीक्षाएं भी प्रकाशित नहीं हुई हैं। पत्र-पत्रिकाओं के संपादक इसका मुख्य कारण इसके आकार को ही ठहराते हैं।

ऐसी स्थिति में सवाल यह उठता है कि किसी रचना या उपन्यास का वृहदाकार होना क्या उसका इतना बड़ा दोष है कि उसकी अनदेखी कर दी जाए। वह भी यह जानते-बूझते कि वह रचनाकार अपने समय का एक महत्त्वपूर्ण लेखक है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रेमचंद, अज्ञेय, यशपाल की कहानियों के पाठकों/आलोचकों को उनके उपन्यासों की अनदेखी का अधिकार सिर्फ आकार के आधार पर प्राप्त हो सकता है क्या? 'वार एंड पीस' (लियो टॉल्स्टॉय) एवं 'क्राइम एंड पनिशमेंट' (दोस्तोयव्स्की) जैसे उपन्यासों को क्या सिर्फ इसलिए पढ़ना छोड़ दिया जा सकता है कि वे वृहदाकार हैं। पता नहीं हिंदी का अध्येता समीक्षक/आलोचक अध्ययन-पठन के ही अपने अनिवार्य दायित्व से क्यों मुख मोड़े हुए हैं।

साहित्य का पाठक तो फिर भी किसी भी आधार पर अपनी पाठ्य-सामग्री के चयन के लिए क्षम्य है, लेकिन जिन प्रबुद्ध अध्येताओं के अनुशीलन-आलोचन से साहित्य की विकासधारा का आकलन होना है, उनके लिए भी व्यक्तिगत रुचि/अरुचि, आकार/प्रकार जैसे कारणों के आधार पर महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की उपेक्षा/अनदेखी उचित है क्या? शायद नहीं। लेकिन हिंदी साहित्य का इतिहास तो ऐसे ही उदाहरणों से भरा पड़ा है। साहित्य में लोकमंगल की अवधारणा का प्रबलता से प्रवर्तन करने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी कबीर के साहित्य को पर्याप्त महत्त्व नहीं दे

पाते, तो फिर दशकों से कथा-चर्चा और आंदोलनों की केंद्रीय पत्रिका 'हंस' के संपादक राजेंद्र यादव के सर्वाधिक प्रिय कथाकारों में से एक होने के बावजूद चंद्रकिशोर जायसवाल की रचनात्मकता का उल्लेख हिंदी कथा की समकालीन विकासगाथा में लगभग अनुपस्थित है, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात? दशकों की अपनी तीव्र इच्छा और उत्कंठा के बावजूद नामवर सिंह भी फणीश्वरनाथ रेणु के कथासाहित्य पर अभी तक कोई व्यवस्थित विमर्श कहां प्रस्तुत कर पाए हैं! खैर, महफिल में नाम न लोगे, तो क्या वे फना हो जाएंगे?

'सात फेरे' का कथासूत्र एक तिहाजू अधेड़ का विवाह तो है, लेकिन उपन्यास के नाम 'सात फेरे' से प्रथमतः जो एक भ्रम होता है कि संभवतः यह एक विवाहकथा (आकार को ध्यान में रखें तो विवाहगाथा) है, वस्तुतः वैसा है नहीं। 'सात फेरे' उपन्यास के मुख्य पात्र बैजनाथ मंडल द्वारा अपने शुभेच्छु, सहयोगी, पुरोहित पलटू झा के साथ विवाहेच्छा से अनुकूल वधू की खोज में की गई सात यात्राओं के रोचक विवरणों से भरी गाथा है। सात फेरों के लिए सात यात्राएं, और तब भी कोई सफलता नहीं। हर बार यह जोड़ी विपरीत परिस्थितियों में फंस जाती है और मार-पिटाई कराकर किसी तरह जान बचाकर घर को वापस होती है। लेकिन इनके द्वारा की गई सातों यात्राओं के सरस वर्णन में डूबा पाठक मानों सात जहान की यात्रा कर लेता है। 'सात फेरे' की सात यात्राएं व्यक्ति के मनोलोक से लेकर गांव, कस्बे, शहर, नगर तथा राज्य एवं राष्ट्र की राजधानियों तक की यात्राएं हैं। इन सात यात्राओं के माध्यम से हमारे सामने आती हैं; व्यक्ति, परिवार, समाज, धर्म, राजनीति, सभ्यता एवं

संस्कृति की विविधवर्णी छवियां। एक ओर जहां यह उपन्यास समकालीन परिस्थितियों में व्यक्ति, परिवार और समाज के पारस्परिक ताने-बाने की पड़ताल करता है, वहीं दूसरी ओर लोक संस्मृतियों, शास्त्रोक्त वचनों, परिवर्तनकामी राजनीतिक चेतना और सभ्यता-संस्कृति की बहुस्तरीय संरचनाओं का सहज सरल आख्यान भी प्रस्तुत करता है।

उपन्यास की संक्षिप्त कथा तो यही है कि कथानायक बैजनाथ मंडल की दो बीवियां मर चुकी हैं और तीसरी भाग गई है, जिसके बारे में उसे झूठी सूचना है कि वह मर गई है। ऐसी स्थिति में यह चौथे विवाह के लिए लालायित है। गांव का उसका हमउम्र पुरोहित पलटू झा उसकी शादी करवा देने का वायदा इस शर्त पर करता है कि शादी के पश्चात् बैजनाथ उसके लिए गांव में एक मंदिर बनवा देगा। योग्य बहू की तलाश में वे दोनों ही सात बार भिन्न यात्राओं पर निकलते हैं। चूंकि बैजनाथ की यह चौथी शादी है, इसलिए वह कैसी भी लड़की से शादी का मन बनाता है; बालविधवा, बिना बाल-बच्चों वाली विधवा, दूसरी जाति की भी आदि; बस एक मानदंड पर वह खरी उतरे कि वह औरत जरूर हो। बहू खोजने के लिए वे हर बार नई-नई जुगत भिड़ाते हैं, लेकिन असफलता ही हाथ लगती है। प्राकृतिक आपदाओं से त्रस्त लड़की की खोज से लेकर कोठे की वेश्या और भगाकर लाई गई लड़कियों तक को खरीदने का विचार वे बनाते हैं। किसी भी यात्रा में वे सफल नहीं हो पाते। अंत में जब समूचा गांव बैजनाथ की शादी के लिए एकजुट होकर प्रयास करता है, तो बैजनाथ की शादी संपन्न हो जाती है और पलटू पंडित के मंदिर का सपना भी साकार हो पाता है। यात्राओं के दौरान तरह-तरह की घटनाओं, पात्रों और स्थितियों से उनका सामना होता है, जिनके रोचक वर्णन में पाठक खो से जाते हैं।

पात्र के मनोलोक और कथानक में समांतर रूप से द्विस्तरीय कथोपकथन वाली चंद्रकिशोर जायसवाल की विशिष्ट शैली तो 'सात फेरे' में लगभग अनुपस्थित है, लेकिन उनकी चिरपरिचित सहज किस्सागोई पाठक को अंत तक बांधे रखती है। विरल संदर्भों के सूक्ष्म और विस्तृत विवरणों में पाठक खो ही नहीं जाता, वरन् उनसे चमत्कृत भी होता

है। जायसवाल जी की एक विशिष्टता लोक-संदर्भों और संस्मृतियों को अपनी रचनाओं में संजोने की रही है। इस उपन्यास में वे लोक के साथ-साथ तंत्र-मंत्र और शास्त्रोक्त संदर्भों को भी विरल ढंग से संजोते हुए दिखाई पड़ते हैं। लोक-किंवदंतियों, लोक-विश्वासों, लोक-गीतों/कथाओं, शुभयात्रा से जुड़े टोने-टोटकों, तंत्र-मंत्र और धार्मिक कर्मकांडों का रोचक और व्यंग्यविनोदपूर्ण पुनराख्यान जायसवालजी ने इस उपन्यास के माध्यम से किया है। साथ-साथ उद्घाटित होते हैं समकालीन समय-समाज के कटु यथार्थ, विसंगतियां और परिवर्तनकारी अध्याय। दलित-पिछड़ा वर्ग का राजनीतिक और धार्मिक जनजागरण, धार्मिक मठों का कदाचार, राजनीतिक पार्टियों और राजनेताओं का दोहरा चरित्र, पुलिसिया जुल्म और भ्रष्टाचार, पौरोहित्य और ज्योतिष-व्यवसाय के ढकोसले, धार्मिक पाखंड, बाढ़ की राजनीति, नीमहकीमों की ठगी, प्राइवेट अस्पतालों की लूट, राजनीतिक रैलियों का सच आदि कितने ही समसामयिक प्रसंगों का समुचित समावेश भी पाठकों को उपन्यास में मिलता है। ग्रामांचलों में व्याप्त यातायात की समस्या, सड़कों की बदहाली, जातिगत राजनीति, धार्मिक अंधविश्वास, ठगी-चोरी-डकैती, डायन संबंधी कुरीति, मिथिलांचल का प्रसिद्ध ब्राह्मण-भोज, ग्रामीण रंगमंच आदि और भी बहुतेरे प्रसंगों को हम उपन्यास में शामिल पाते हैं।

'सात फेरे' में वर्णविभाजित हिंदू समाज के सर्वोच्च एवं निम्नवर्णी दो चरित्रों पलटू झा और बैजनाथ मंडल को मुख्य पात्र बनाया गया है। आर्थिक दृष्टि से वे मध्यमवर्गीय समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। वैसे यह भी उल्लेखनीय है कि समीक्ष्य उपन्यास के अन्य प्रासंगिक पात्र भी प्रायः मध्यवर्गीय ही हैं। इस दृष्टि से यह उपन्यास परिवर्तनकारी भारतीय समाज का मध्यवर्गीय आख्यान प्रस्तुत करता है। कथानक की सीमा बीसवीं सदी का अंतिम दशक ही है, क्योंकि इसमें हम संपर्क क्रांति के दो उपकरणों टेलीफोन/मोबाइल और कंप्यूटर/इंटरनेट की उपस्थिति नहीं पाते हैं। लेखक ने प्रत्यक्ष सामाजिक संपर्क पर आधारित संबंधों के बनते-बिगड़ते वर्तमान परिदृश्य का जीवंत उद्घाटन किया है। प्रिंट मीडिया अथवा डिजिटल मीडिया के माध्यम से योग्य वधू की तलाश के उपक्रम को भी यदि इस उपन्यास में शामिल किया गया होता तो संभवतः इस नई वायवी दुनिया के रोचक विवरणों के माध्यम से मध्यवर्गीय समाज के अद्यतन आख्यान से हमारा परिचय हो पाता। लेकिन तब जिन लोक/शास्त्रोक्त संदर्भों को उपन्यास में सहेजने का उपक्रम लेखक ने किया है, आकार को ध्यान में रखते हुए तब शायद उसमें उसे कटौती करनी होती; अथवा उपन्यास और भी वृहदाकार हो जाता।

सात फेरे/चंद्रकिशोर जायसवाल/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ₹ 650

साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-110001, मो. 09868456153

देह की मुखरता

फ़ज़ल इमाम मल्लिक

हाल के कुछ सालों में हिंदी-कथा-साहित्य का मिजाज बदला है। स्त्री-विमर्श के नारे के बाद कथा-साहित्य में एक बड़ा बदलाव आया और सामाजिक सरोकारों के बजाय मुक्त और आजाद जीवन कहानियों के केंद्र में रहा। यानी कथा-साहित्य जिस्म की भूल-भुल्लयों में डूबता-उतराता रहा। कहानियों से कहानी गायब होती गई और देह-गाथा के बहाने एक जादुई दुनिया पाठकों के सामने परोसी जाने लगी। यह सिलसिला थमा नहीं है बल्कि जारी है। इस जादुई दुनिया में जिस्म मुखर होकर बोलता-बतियाता है और जीवन की दूसरी बातें कहीं गौण हो जाती हैं। देह से देह तक की इस गाथा को स्त्री-विमर्श के नाम पर बार-बार पाठकों के सामने परोसा गया और दलीलें दी गईं कि स्त्री अपनी देह, जाति, धर्म और पाखंड से मुक्त होकर एक बेहतर समाज की संरचना करना चाहती है, लेकिन दिक्कत यह हुई कि हिंदी में कथा-साहित्य में जो यह नई ट्रेंड शुरू हुई है, उसमें और सब तो पाठकों को मिलता रहा, कहानी के सिवा। जिस रूमानी दुनिया में आंखमिचौली खेलते हुए लोग उन रंगों को देखते थे, जिसमें बंदिशें थीं, रुकावटें थीं और जहां बहुत जतन कर एक-दूसरे से मिल पाना होता था, वहां उदारीकरण के द्वार ने सब कुछ नए तरीके से खोलकर हमारे सामने रख दिया है। कहीं कोई रुकावट नहीं, जिसे भोगना है भोगे, क्योंकि अब शादी के बिना भी साथ रहा जा सकता है। समाज में जो यह नई हवा चली इसका असर हमारे कथा-साहित्य पर भी पड़ा और महिला कथाकारों ने न सिर्फ इसे विस्तार दिया, बल्कि सब कुछ उघाड़कर रख दिया। कई बार तो इन कहानियों को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि हम कोई चालू हिंदी फिल्म देख रहे हैं, जिसमें नायक, नायिका और खलनायक का चालू फार्मूला उसे हिट करने के लिए परोसा जाता है। हिंदी कहानियों के साथ भी ऐसा ही एक चालू फार्मूला कथाकारों ने ढूंढ़ निकाला और स्त्री-विमर्श के शार्टकट के जरिए रातों-रात हिट होने के जुगत में कथाकार जुट गए थे। इस फार्मूले को महिला कथाकारों ने ज्यादा शिद्दत से अपनाया और 'देह-धर्म' को जिस्म की आजादी समझकर कहानियों में उसे व्यापक तरीके से परोसा, यह जाने-समझे बिना कि कहानी में जिस्म के अलावा कहानी का होना भी बेहद जरूरी है।

युवा कथाकार जयश्री राय का उपन्यास 'औरत जो नदी है' को पढ़ते हुए भी कई बार ऐसा ही कुछ लगा। हाल के कुछ सालों में महिला कथाकारों की जो नई पौध आई है, उनमें जयश्री राय का नाम महत्त्वपूर्ण है। उनकी कई कहानियों ने बेतरह प्रभावित किया है। ख़ासकर भाषा और विषय को लेकर। जयश्री राय चूंकि कविताएं भी लिखती हैं इसलिए उनकी भाषा पर इसका असर भी दिखता है और अच्छी बात यह है कि उसे बरतने का सलीका भी उन्हें आता है। 'औरत जो एक नदी है' में भी एक काव्यात्मक भाषा है और उसके जरिए वे पाठकों से सरोकार बनाती हैं लेकिन उपन्यास का कैनवास बहुत फैला हुआ नहीं है। जयश्री राय महिलाओं से जुड़े उन सवालों को ही उठाती हैं जिनके जवाब कई-कई बार तलाशने की कोशिश अलग-अलग तरीकों से की गई है। लेकिन हर बार ये सवाल स्त्री-पुरुष संबंधों में ही खोकर रह गए हैं, 'औरत जो नदी है' में भी यह सवाल जिस्म की उस दुनिया में खो गए हैं जहां अशेष और दामिनी एक-दूसरे को भोगते हैं।

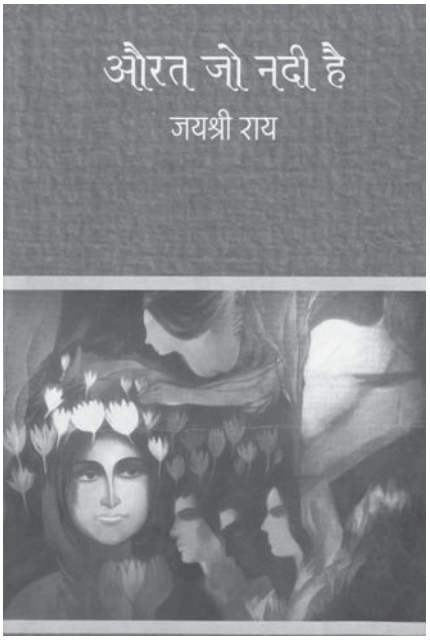

स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर जयश्री राय ने जो एक ताना-बाना बुना है, उसमें स्त्री के कई रूप दिखाई देते हैं। उमा, दामिनी, रचेल और मीता पुरुषों के उस संसार में अपने-अपने तरीके से जीवन को देखती हैं और जिंदगी को अपने ढंग से जीती भी हैं। उपन्यास में कई जटिल प्रश्न भी हैं। एक तरफ दामिनी है तो दूसरी तरफ रचेल, अशेष की पत्नी उमा है तो दूसरी तरफ मीता है जो औरतों और खासकर भारतीय औरतों को लेकर चिंतित है। विदेश में रहने वाली मीता भारतीय सभ्यता-संस्कृति पर बात करते हुए द्रौपदी और सीता को कमजोर मानती है क्योंकि दोनों अन्याय सहकर चुप रहती थीं

और आंसू बहाती थीं। लेकिन जयश्री राय ने सीता और द्रौपदी को कमजोर बताकर उनका एक ही पक्ष सामने रखा है। क्या सचमुच सीता और द्रौपदी कमजोर थीं! द्रौपदी और सीता के दूसरे पक्ष पर चर्चा क्यों नहीं की जाती है जो उन्हें पुरुषों के उस समाज में मजबूती से न सिर्फ खड़े रहने के लिए प्रेरित करता है बल्कि सीता और द्रौपदी की उस अदम्य इच्छाशक्ति को भी सामने रखता है जिसकी वजह से राजनीति की पूरी इबारत लिखी गई थी। सीता और द्रौपदी के चरित्र के इस पहलू पर भी बात होनी चाहिए, जिस पर अब तक बहुत कम ही चर्चा होती रही है। 'औरत जो नदी है' में भी एक कमेंट भर कहकर सीता और द्रौपदी को कठघरे में खड़ा कर दिया गया है।

उपन्यास में सारा ताना-बाना दामिनी और अशेष के बीच बुना गया है। दामिनी के जीवन में अशेष का आना किसी घटना की तरह ही कहा जा सकता है। सरकारी नौकरी में तबादले के बाद गोवा आए अशेष की मुलाकात दामिनी से होती है और पहली मुलाकात में ही देह की बंदिशें टूट जाती हैं। अशेष दामिनी से एक सच बोलता है और एक झूठ। सच यह कि वह शादीशुदा है और झूठ यह कि उसे अपनी पत्नी से प्रेम नहीं है। दरअसल दामिनी के जीवन में जटिलताएं ज्यादा हैं। जीवन की इन जटिलताओं से लड़ती-जूझती दामिनी अशेष में उस पुरुष को पाती है जो उसे 'प्यार' के साथ 'देह-सुख' भी देता है, लेकिन दामिनी के चरित्र में कई अंतर्विरोध भी हैं। खासकर अपने मां-पिता को लेकर जो कथा वह सुनाती है, वह एक औरत की पीड़ा को तो जरूर हमारे सामने रखती है, लेकिन कई सवाल भी खड़े होते हैं। बरसों तक साथ रहते हुए मां-पिता के बीच किसी तरह का संवाद नहीं होना अजब-सा लगता है। ठीक है कि दामिनी के पिता को उसकी मां से प्यार नहीं था, लेकिन इसके बावजूद क्या यह संभव है कि सालों एक घर में रहते पति-पत्नी में संवादहीनता हो। कम-से-कम जीवन में इस तरह की संवादहीनता तो नहीं ही दिखाई देती है। यह भी मान लिया जाए कि उसके पिता का व्यवहार उसकी मां के साथ ठीक नहीं था, पाश्विक व्यवहार करता था लेकिन क्या यह भी सही नहीं है कि एक बड़े घर में जितना अकेलापन उसकी मां को पिता से बात नहीं करने की वजह से सालता था, उतना ही अकेलापन उसके पिता को भी नहीं सालता था क्या। जाहिर है ऐसे ही कई सवाल बार-बार सामने आ खड़े होते हैं, क्योंकि दामिनी जानती है कि जिस अशेष को वह अपना देह सौंप रही है, वह शादीशुदा है और आखिरकार उसे एक दिन अपनी पत्नी के पास लौटना ही है। तो क्या यह सवाल बेजा है कि उसने अशेष को सिर्फ अपनी दैहिक जरूरतों के लिए ही नहीं चाहा। रचेल के साथ अशेष के संबंधों को लेकर उसकी आपत्ति थोड़ी देर के लिए समझी जा सकती है, लेकिन सच तो यह भी है कि अशेष को कभी न कभी तो लौटकर पत्नी के पास जाना ही था। तो क्या जानबूझकर दामिनी ने वह रास्ता नहीं चुना था, जहां देह का रिश्ता देह से शुरू होकर देह पर खत्म होता है। 'औरत जो नदी है' भी इसी देह के रिश्ते को ज्यादा मुखरता के साथ हमारे सामने रखता है। उपन्यास की भाषा जरूर एक रूमानी दुनिया से जोड़ती है, जहां जीवन कई-कई रंगों में हमारे सामने खिलखिलाता-मुस्कराता दिखाई पड़ता है।

औरत जो नदी है/जयश्री राय/शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, मूल्य : ₹ 225

संपादकीय विभाग, जनसत्ता, ए-8, सेक्टर-सात, नोएडा-201301 मो.

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री—यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

चाय के प्याले में गेंद

राजीव कुमार

'चाय के प्याले में गेंद' विजय मोहन सिंह का नवीनतम कहानी-संग्रह है। इस संग्रह की कहानियां स्मृति को टूल्स के रूप में उपयोग करती हैं और भागते समय के साथ स्मृतियों में अटकी तो कहीं उससे फिसलती संवेदना को शिद्दत से व्यक्त करती हैं। संग्रह इस मायने में विशिष्ट है कि इसमें समकालीन रुझान की अलग-अलग कोटियों को बानगी के रूप में पिरोने का आग्रह नहीं है, बल्कि यह संग्रह हमारी पारिवारिक-सामाजिक एवं युगीन परिस्थितियों को देशजपन के साथ सामाजिक विडंबनाओं के विभिन्न रूपों को सामने लाता है, जैसे—'चाय के प्याले में गेंद' में अकेलापन, 'कुंडलिनी' में कसकता दांपत्य, 'चेरोखरवारों का गांव' में सामंती समाज का पैटर्न। यही कारण है कि विमर्श से ज्यादा पक्षधरता है, शाब्दिक शोर की बजाय संवेदनशीलता है। प्रतिरोधी स्वर अनावश्यक शोर की बजाय प्रतिरोध को कार्यरूप में तब्दील करता है। उदाहरणस्वरूप 'अपनी तरह से जीना' शीर्षक कहानी। इस कहानी में स्त्री-अस्मिता की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। कहानी स्त्री के संबंध में पुरुषवादी मानदंड को अतिक्रमित करती है। हमारे समाज में वैधव्य के साथ वर्जनाओं का अतिवादी आरोपण है, लेकिन इस कहानी में भाभी जीवन की सहजता छीन लेने वाली किसी भी वर्जना को स्वीकार नहीं करती। कहानी में भाभी गांव की लड़कियों के साथ सहज आमोद-प्रमोद में जीती हैं। उनकी आर्थिक चेतना भी कहानी का सकारात्मक पक्ष है। पति की मृत्यु के बाद परिजनों की लोलुप दृष्टि उनकी जायदाद पर, पर भाभी उनके मंसूबे को पर नहीं लगने देती। इस तरह यह कहानी स्त्री के सामाजिक अधिकारिता के वृहत् दायरे को समेटती है। दरअसल 'अपनी तरह से जीना' जैसी कहानी स्त्री-सशक्तिकरण को कहीं ज्यादा संबल प्रदान करती है, बनिस्पत देहवादी फैंटेसी के।

इस संग्रह की एक अन्य कहानी 'विभाजन' भी स्त्री संघर्षशीलता को एक भिन्न संदर्भ से सामने लाती है। कहानी की केंद्रीय पात्र जो युवावस्था में ही विधवा हो गई थी, एक बच्चे एवं नौकर के साथ रह रही है। उनका जीने का ढंग एवं व्यवहार संघर्षशीलता एवं मनोभूमि के जटिल स्वरूप को सामने लाता है। उन्होंने अपने अकेलेपन को स्वीकार ही नहीं किया बल्कि उसे जीवन का ढब बना लिया है—"...वे उस घर में लोगों का बहुत आना-जाना पसंद भी नहीं करती थीं।

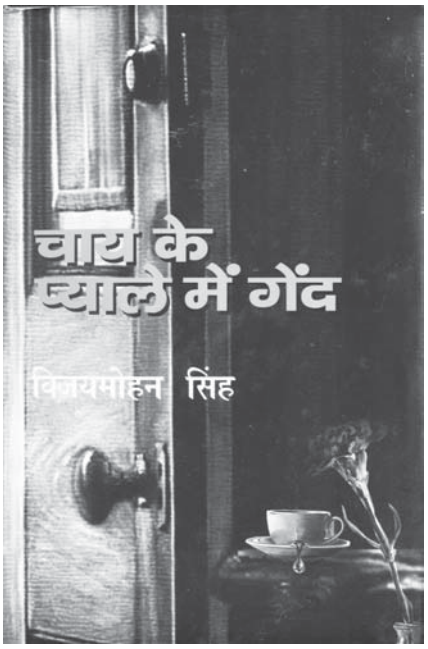

यह सब उन्हें अपनी निजता तथा उपार्जित एकांत पर आक्रमण प्रतीत होता था। किसी भी अयाचित अथवा अवांछित के आने पर उन्हें लगता कि वह उनके 'स्व' के किसी अंश का अपहरण कर ले गया है।" लेकिन इस अर्जित एकांत में किसी तरह का पलायन नहीं है। विजय मोहनजी संघर्ष चेतना की पारंपरिक अभिव्यक्ति से पृथक् जीवन-संघर्ष के नए वृत्त को सामने लाते हैं। उन्होंने यहां ऐसे पात्र का सर्जन किया है जो अपना संबल खुद बन रही है, वह भी ईश्वरोन्मुखता या चमत्कारवाद का सहारा लिए बिना। संपर्क एवं व्यवहार के स्वनिर्मित दायरे के साथ, जिनमें उनका किचन गार्डेन है, कुटुंबों को अचार-मुरब्बे भेजने का संपर्क है और साथ में ही किसी किस्म का अहं या श्रेष्ठता दंभ भी नहीं है। कालांतर में उनकी ननद उन्हें नेतृत्व देने आती है, वे यह श्रेय देने से इंकार कर देती हैं।

संग्रह की शीर्षक कहानी 'चाय के प्याले में गेंद' अकेलेपन की नियति को द्वंद्वात्मक रूप से व्यक्त करती है। कहानी में तीन युवा मित्रों का अभाव-यंत्रणा भरा संघर्ष है, संग-साथ भी। फिर चालीस वर्ष बाद उनका संपर्क होता है तब एक मित्र साथ होने की ख्वाहिश व्यक्त करता है। दरअसल यह कहानी जीवन में अकेले पड़ते जाने एवं स्वयं भी अकेलेपन की नियति को, क्षणभंगुर अपनत्व के बरक्स स्वीकार कर लेने की कहानी है—"...हम एक-दूसरे के साथ और उनकी तरह रहने की कोशिश करते हैं। एक-दूसरे के लिए हमारी ये चिंताएं उन्हें सुखी, स्वस्थ देखने की हमारी कामनाएं, कृत्रिम या अस्वाभाविक नहीं होतीं, लेकिन वे हमारे साथ रहने को असहज बना

देती हैं...फिर एक दिन सब लौट जाते हैं, जहां से वे आए थे।'' सामाजिक विकास-क्रम में सामूहिकता के ह्रास की जटिल प्रक्रिया को कहानी बखूबी व्यक्त करती है।

'कुंडलिनी' प्रेम, दांपत्य एवं मित्रता के साथ रागात्मकता, दैहिकता के सूक्ष्म एवं जटिल अंतर्संबंध को व्यक्त करने वाली कहानी है। नवीन-जयंती के संबंध में राग-विराग है। नवीन में संभवतः दैहिक आकर्षण नहीं है या कोई टैबू है। गहन रागात्मक क्षण में किताब लेकर पढ़ने लगता। बाद में नवीन-जयंती हरीश के साथ ट्रैकिंग पर जाते हैं, वहां हरीश जयंती से संबंध बनाना चाहता है, पर वह इंकार कर देती है।

'बोझ जब तक असह्य न हो जाए' एक कलाकार की बेचैनी एवं अराजक जीवनचर्या के माध्यम से सामाजिक विद्रूपता, सत्ता की क्रूरता, प्रदर्शनप्रियता एवं दोहरेपन को उद्घाटित करती है। तंत्र के लिए बड़े व्यक्तित्व का सम्मान का प्रदर्शन रिचुअल्स की तरह होता है, जिसका वे रूटीन निबटारा करते हैं। वह मूल्यों की स्थापना की जगह प्रतिमा स्थापित करता है। दूसरी ओर समाज भी असहिष्णु एवं स्मृतिलोपी हो रहा है। इस पूरी स्थिति से एक संवेदनशील व्यक्ति किस तरह व्यथित होता है, उसे इस कहानी में चित्रकार के माध्यम से व्यक्त किया गया है। कहानी में घटना कम एवं प्रतीक का बेहतरीन इस्तेमाल है। पंखनुचा पिंजरे में कैद शाहीन मानवता के संकट को बखूबी दर्शाता है।

इस संग्रह में 'चेरोखरवारों का गांव' तथा 'हमेशा प्रतीक्षालय'—दो लंबी कहानियां हैं। 'चेरोखरवारों का गांव' औपन्यासिक मिजाज की, बड़े फलक की कहानी है जहां गांव-परिवार के अतीत से वर्तमान तक की यात्रा के बहाने सामंती-समाज के ऐतिहासिक स्वरूप एवं चरित्र की पड़ताल की गई है। कहानी में अनेक संदर्भ एवं स्थितियां हैं—1942 का आंदोलन, जमींदार वर्ग के चरित्र का दोहरापन, एक ओर पुलिस की दावत दूसरी ओर कांग्रेस में घुसपैठ, कामकाजी वर्ग की स्त्रियों का शोषण, दावत उड़ाते जमींदार, चूहे खाते मुसहर समुदाय के लोग। इतिहास, जातीय संरचना, आर्थिक स्थिति, जीवन-यापन के ढर्रे के माध्यम से एक युग की दास्तां है यहां।

'हमेशा प्रतीक्षालय' पहाड़ी जीवन की अंततः एकाकीपन की नियति दर्शाती है। यद्यपि मुख्य रूप से यह एक त्रासद प्रेम कहानी है जो सार्वजनिक नैतिकता एवं उन्मुक्त चाह के संघर्ष में दम तोड़ देता है।

इस संग्रह की कहानियों में एकाकीपन विभिन्न आयामों में व्यंजित हुआ है। इस संग्रह की कहानियों में संबंधों के अलग-अलग शेड्स हैं। सामाजिकता, ऐतिहासिकता, स्त्री सशक्तिकरण के स्वर खास अंदाज में व्यक्त हुए हैं। एक विशिष्टता जो प्रायः हर कहानी में व्यक्त हुई है, वह है देशी खान-पान, उसके निर्माण एवं स्वाद की मौलिकता जिसे विजय मोहनजी ने खासे आग्रह से व्यक्त किया है। आज के कॉर्पोरेट प्रभुत्व द्वारा हमारी हर विशिष्टता को मिटाया जा रहा है, देशजता के हर आयाम को बचाना चुनौती है, उसी का एक आयाम यहां मौजूद है।

चाय के प्याले में गेंद/विजयमोहन सिंह/राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 2/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 200

टी.टी-36, रेलवे कॉलोनी (रिजर्वेशन काउंटर के सामने), शाहदरा, दिल्ली-110032, फोन : 8010342040

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने—एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

शब्द टटोलते हैं गूंगे दर्द के हाथ

रजनी गुप्त

वरिष्ठ कथाकार राजी सेठ के इस संग्रह की कहानियां मानवीय संबंधों के बारीक-से-बारीक रेशे को पकड़ते हुए परंपरा और आधुनिकता के बीच बिखरी कड़ियों को एकसूत्र करते हुए संवेदना के नए गवाक्ष खोलती हैं। मनोभावों एवं अभिव्यक्ति के बीच की थरथराहट को शब्द देते हुए ये कहानियां एक झटके से जैसे—'मुलाकात' कहानी मानवीय संबंधों की बुनावट को तार-तार कर डालती है। पात्रों के वैविध्यपूर्ण संसार में घुसपैठ करती रचनाकार बड़ी आत्मीयता से वृद्ध पात्र के जरिए (कहानी—'उसका आकाश') अशक्त पात्रों की बेबसी और असहायता से उपजी खीझ, अवशता और अपने भीतर प्रतिपल जीते-मरते समय को साक्षी भाव से देख पाने की विडंबना को चीन्ह पाती हैं। दार्शनिकता से ओतप्रोत भाषा का गांभीर्य—'कोई किसी के काम नहीं आता, कोई किसी का गुरु नहीं बनता, कोई किसी के दुख नहीं बांटता।' छीजते संबंधों की बखिया उधेड़ते हुए लेखिका बड़ी बारीकी से समकालीन समय के सरोकारों को शब्दबद्ध करती हैं, लेकिन संबधों के मुखड़े इतनी जल्दी-जल्दी बदलते हुए नए-नए रूप, ध्वनि और रंग बदलते हैं जिन्हें पूरी निरपेक्षता और निर्ममता से पकड़ पाना किसी भी रचनाकार के वश की बात कहां? बड़े कायदे से चिकने चमकीले रैपर लगे कौंध बिखेरते दुनियावी रिश्ते कभी-कभार एक झटके में ही बेगाने, अपरिचित और अजनबी से लगने लगते हैं। 'अनावृत्त कौन' कहानी की स्त्री परंपराप्रिय प्रचलित मूल्यों को वहन करने की जद्दोजेहद करते या नकारते हुए पुरुष की नजर से उस दुनिया को उस तरह से नहीं देख पाती जिसके चलते उनके आत्मीय रिश्ते वात्याचक्र बनकर वर्तुलाकार घूमने लगते—'हाथ प्यार के लिए उठते हों, परंतु स्पर्श इतने फौलादी-इस्पाती कि स्वामित्व भोग का हिंसक एहसास ही दे पाते हों। अधिकार की हिंसा को प्यार के चोले में आवृत्त मैंने पहली बार देखा।' यहां सजीव होते हुए भी भाषा में गांभीर्य-गझिन दार्शनिक सूक्तियों से ओतप्रोत हैं।

पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में तिलतिलकर पिसती स्त्री की पराधीनता की बारीक चिप्पियों का इस्तेमाल स्त्री द्वारा प्रतिवाद करने का नैतिक साहस और उसके बाद की भयावह चुप्पियां, लाचारगी और बूंद-बूंद करके पिघलते वजूद की बारीक अभिव्यंजनाएं/आत्मविवेचना, आत्मविश्लेषण या आत्मालाप से घिरे पात्रों के मन में उमड़ रहे चक्रवात से जूझती कथाकार राजी सेठ की भाषा में अति दार्शनिकता का समावेश कहानियों को यत्र-तत्र अपठनीयता की अलंघ्य खाई में धकेल देता है। 'दूसरे देश काल' कहानी दी गई स्थितियों के खिलाफ तीखेपन से सवाल-दर-सवाल खड़ा करती है—'तुम लोगों पर दबाव? समाज का? वह भी एक गायब से लगते समाज का? वह हावी होता तो तुम सब इस तरह पेश आते? क्या तुम लोगों ने समाज नाम की चीज को जी

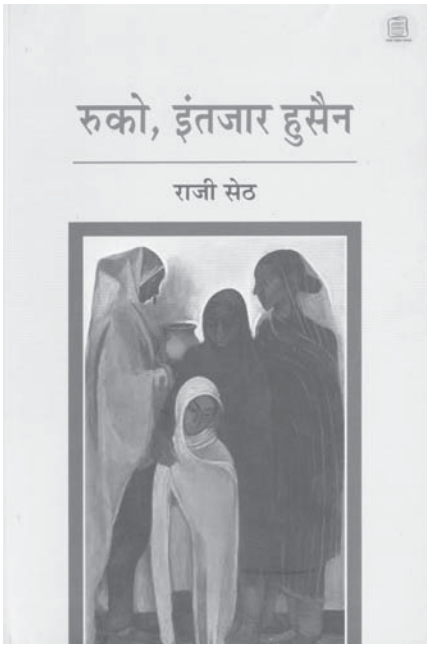

भरकर नहीं रौंदा? धता नहीं बताई? ज्यादा आजादी नहीं छीनी? ज्यादा मनमानी नहीं की? हावी तुम थे या समाज? जो दिखाई तक नहीं देता? तुमने किया क्या है आजादी का?' व्यक्ति बनाम समाज के बीच आजादी पर सवालिया निशान दागते हुए वे अनायास कब और कैसे गंभीर विमर्श पर उतर आती हैं, पता ही नहीं चल पाता। मन की बारीक परतों को प्याज के छिलके की तरह उतारते-उतारते कथाकार नए सिरे से कहानी उठाती हैं लेकिन फिर से उनके पात्र स्वीकारने-अस्वीकारने के सवालों के घेरे में फंसे फड़फड़ाते रहने को विवश या अभिशप्त नजर आते हैं। क्यों है ऐसा? अपने प्रतिकूल हालातों से लड़ने का जज्बा जरूर उनके अंदर कुलबुलाता होगा, लेकिन अंततोगत्वा तमाम पात्र मन के अतल अंधेरे कुएं में फंसे आत्मालाप की मुद्रा में आप्तवचन उचारने लगते हैं।

'पासा' जैसी कहानी चलते-फिरते किसी भी आम आदमी के चेहरे पर चढ़ी परतों को उधेड़ने की हल्की-सी कोशिश भर है, लेकिन नैरेटर द्वारा किसी भी आम आदमी की वांछा को कूड़ेदान में फेंक देने जैसी अमानवीयता भरा बर्ताव भी पाठक को कचोटने लगता है। पात्र छोटे तबके के हों या बड़े तबके के, मध्यवर्गीय हों या उच्च मध्यवर्गीय, उन्हें अपनी मुट्ठी में सपने पालने और सपनों के बीज को जमीन में फेंक लहलहाती फसलों की खुशफहमी पाल लेने में भला कैसी हिचक? कैसा संकोच?

संग्रह की अविस्मरणीय कहानी है—'यह आदमी नहीं' जहां लेखकीय व्यक्तित्व के जरिए एक पात्र के दर्द और तकलीफ की बारीक व्यंजना देखते ही बनती है—'मन में क्यों कोई टेर नहीं? जड़ता है परम पथरीली, कोई संवेदन नहीं, क्या इसीलिए पीड़ा नहीं...जेहन में एक सूचना है एक क्षति की। चेहरा है एक मृत्यु का, सर्वग्रासी, विकराल।'

'फ्लाईओवर', 'विकल्प' और 'अंधे मोड़ से आगे' जैसी कहानियां आत्मीय पात्रों की दृष्टि में शुमार तब्दीलियां, दैन्यता, लाचारगी और रिश्तों व बदलते परिवेश के साथ लेखकीय तादात्म्य बनाम आत्मालापी प्रसंग देखते ही बनते हैं। हर लक्षित-अलक्षित घटना के पीछे नैतिक-दार्शनिक आप्त वाक्यों का प्रचुरता से प्रयोग इतनी बोझिलता पैदा करने लगता है गोया पात्रों की गहन पीड़ा को अनकही चुप्पी में बदल डालने का लेखकीय संकल्प रहा हो।

बेशक सघन अनुभूतियों का तनाव रचने-उकेरने की कला में वे सिद्धहस्त हैं जिसके चलते तमाम पात्र अपने घेरे तोड़कर बाहरी दुनिया के साथ कदमताल नहीं कर पाते। बेबाक, बेलाग बोलने वाले पात्र इतने अकेले और अलग-थलग से क्यों दिखते हैं? परिवेश में अक्सर अतीत और बुझे हुए वर्तमान की आवाजाही लगी रहती है। यहां भाषा अनायास निबंधात्मक रूपाकार लेने लगती है—'संवाद की एक सीमा आ गई अपने आप। दोनों के अनचाहे। बीच में सब कुछ उतना ही बंद, अव्यक्त।' सवाल उठता है, कहीं ये लेखकीय संवाद की भी सीमा तो नहीं है? शायद हां, शायद ना...

'रुको, इंतजार हुसैन' कहानी आजादी की जंग में बंटवारे के दौरान मचती मारकाट और अफरातफरी के दरम्यान प्रेम के बिखरते तार-तार होते जाने की लोमहर्षक दास्तान है। अकस्मात सालों पुराने प्रेम की जमी चीख पिघलती है कतरा-कतरा, खून-खून, आंसू-आंसू।

'तीसरी हथेली' और 'मैं तो जन्मा ही' जैसी कहानियों में फिर वही पात्रों की असहायता, बेबसी और अभिशप्त आत्माओं जैसा आलाप-प्रलाप, कहानियों का अमूमन हर पात्र सोच या आत्मालाप में डूबा नजर आता है—'सतत सोच रहा हूं तुम भी सोचना कि प्रतिकूलता से निपटने का क्या कोई दूसरा तरीका नहीं है?' बच्चे, असहाय बूढ़े, युवा बच्चे या पति-पत्नी यानी आम मध्यवर्गीय परिवारों के बीच असहज होती स्थितियां व अनचाही असुविधाएं जहां हर कोई कहीं-न-कहीं मिसफिट है, यही है इन कहानियों का निचोड़।

रुको, इंतजार हुसैन/राजी सेठ/सस्ता साहित्य मंडल/एन-77, पहली मंजिल, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-110001/मूल्य : ₹ 110

5/259, विपुल खंड, गोमतीनगर, लखनऊ
मो. 09452295943

कहानी

ईमां मुझे रोके है जो खींचे है मुझे कुफ्र*

आदित्य विक्रम सिंह

भारतीय समाज में जातिगत विभाजनों का अंतःप्रदेश बहुत संकीर्ण है, इसीलिए एक ही समाज में रहते हुए दो समुदाय एक-दूसरे के जीवन एवं उनके संसार से लगभग समानांतर दूरी पर ही साथ रहते हैं और अधिकतर अपरिचय ही दोनों संसारों का संबंध—सच है। एक-दूसरे के समाजों-समुदायों का अंतःसंबंध इसीलिए तनाव का अपरिचित सूत्र निर्मित करता रहा है। यह विडंबना ही है कि एक साथ रहने के बावजूद, एक जैसी परिस्थितियों एवं चुनौतियों को झेलने के बाद भी इन समुदायों की जीवनविधियां एवं उन समस्याओं से टकराने का तरीका भी भिन्न है। मुस्लिम समाज की अनेक समस्याएं इसी पर्दे के पीछे की तल्ख हकीकतें हैं जिन्हें उजागर करने का प्रयास हिंदी-उर्दू साहित्यकारों ने अपने-अपने स्तरों पर किया है।

कुर्रतुलऐन हैदर, जीलानी बानो, नासिरा शर्मा जैसी प्रख्यात महिला रचनाकारों ने मुस्लिम समाज की अंदरूनी समस्याओं से पर्दा उठाकर खासतौर पर हिंदी-उर्दू कथा-साहित्य को आंदोलित किया था। उसी परंपरा का निर्वाह युवा कहानीकार हुस्न तबस्सुम 'निहां' के यहां बखूबी दिखता है। हुस्न तबस्सुम 'निहां' का पहला कहानी-संग्रह 'नीले पंखों वाली लड़कियां' अभी-अभी छपकर आया है। इस संग्रह पर बात करना कई मायने में जरूरी है।

यदि एक बड़े आलोचक की बात मानी जाय तो 'रचना को उसके देशकाल में देखा जाना चाहिए'—के ही परिप्रेक्ष्य में इस युवा रचनाकार की रचनाओं को पढ़ना चाहता हूं। यह पूर्वाग्रह नहीं, बल्कि इन कहानियों की आंतरिक मांग भी है, क्योंकि इन कहानियों के भीतर घटी स्थितियां वही हैं जो पिछले दिनों देश और दुनिया में चरम रूप में पनपे उग्र सांप्रदायिक उन्माद के कारण जनमीं और जिन्होंने जनजीवन को लगभग तहस-नहस कर डाला।

किसी भी रचनाकार का सामाजिक जीवन जिन परिस्थितियों से जूझता, झेलता और प्रभावित होता है, उसकी छवियां उसकी रचनाओं में अवश्य झलक उठती हैं। मेरा व्यक्तिगत मत है इससे न सिर्फ रचनाकार की पक्षधरता का जायजा लिया जा सकता है बल्कि उसके समय के यथार्थ का सांस्कृतिक इतिहास भी परखा जा सकता है। हुस्न तबस्सुम 'निहां' की कहानियों को पढ़ते हुए उन अनेक प्रसंगों की परोक्ष छवियों को साफ-साफ पहचाना जा सकता है, जिन्होंने 1992 की बहुचर्चित घटनाओं के बाद अपना विकृत रूप देखा है।

प्रस्तुत कहानी-संग्रह में 18 कहानियां हैं। अधिकतर कहानियों का विषय मुस्लिम समाज की जिंदगी है और उनके परिवारों की

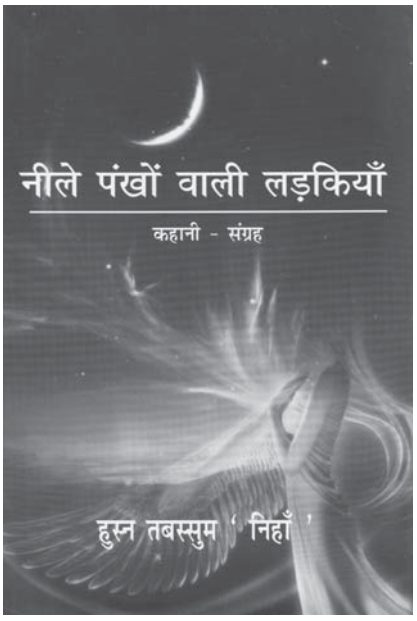

स्त्रियों का जीवन। मुसलमान और मुस्लिम औरतों के सिलसिले में भारत या विश्व में जो नजरिया है वह लगभग एकरूप है। मुस्लिम औरतों के हालातों पर बात हमेशा इस्लाम के नजरिए से की जाती है। इस नजरिए पर सोचने की जरूरत है, क्योंकि दूसरे धर्म की स्त्रियों पर बात करते समय हम धर्म नहीं बल्कि उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आधारों की ओर देखते हैं। अन्य धर्म की स्त्रियों के बारे में हम हमेशा उनके सामाजिक अधिकार के पहलू को जानना चाहते हैं, पर मुस्लिम समुदाय में हमें धर्म को सर्वोपरि मानते हुए स्त्री पर बात करनी होती है।

मुस्लिम समाज की दुनिया हमारे लिए हमेशा अबूझ, तिलिस्म वाली दुनिया रही है। निहां अपनी कहानियों में हमें इसी दुनिया से रू-ब-रू कराती हैं। संग्रह की पहली कहानी 'ये बेवफाइयां', 'हलाला निकाह' की तमाम पर्तों को उधेड़ती है। औरत किस तरह एक वस्तु हो जाती है, उसका अपना वजूद कुछ नहीं, जब तक मर्द ने चाहा उपभोग किया और एक झटके में ही उसे अपने जीवन से अलग कर दिया और साथ ही साथ पैसा क्या अहमियत निभा सकता है आपके साथ, आप पैसे के लिए किस दर्जे तक गिर सकते हैं, इन सबके वृत्तांत से यह कहानी हमें परिचित कराती है। कहानी एक ऐसी औरत जीनत की है जिसे उसका पति शादी के 40 साल बीतने के बाद तलाक दे देता है और चूंकि जीनत दो करोड़ की मालकिन है तो उसे वो वापस हलाला निकाह के माध्यम से वापस पाना चाहता है। इसी जद्दोजहद के बीच पिसती नारी की कहानी है 'ये बेवफाइयां'।

संग्रह शीर्षक कहानी 'नीले पंखों वाली लड़कियां', ऐसी लड़की की कहानी है जो अपनी ही तरह की एक लड़की से प्रेरणा लेकर स्वच्छंद तरीके से जीवन जीने का फैसला लेती है और उस पर अमल करते हुए एक विजातीय लड़के के साथ आजीवन रहने का साथ पाकर घर छोड़ देती है। कहानी थोड़ी फिल्मी हो जाती है अंत तक, पर एक बड़े पुरसुकून फैसले के साथ अपनी परिणति को पाती है। संग्रह की कहानियों में जीवन के कई शेड्स मौजूद हैं। हम 21वीं सदी में रह रहे हैं इसके बावजूद परंपरा के नाम पर किस तरह

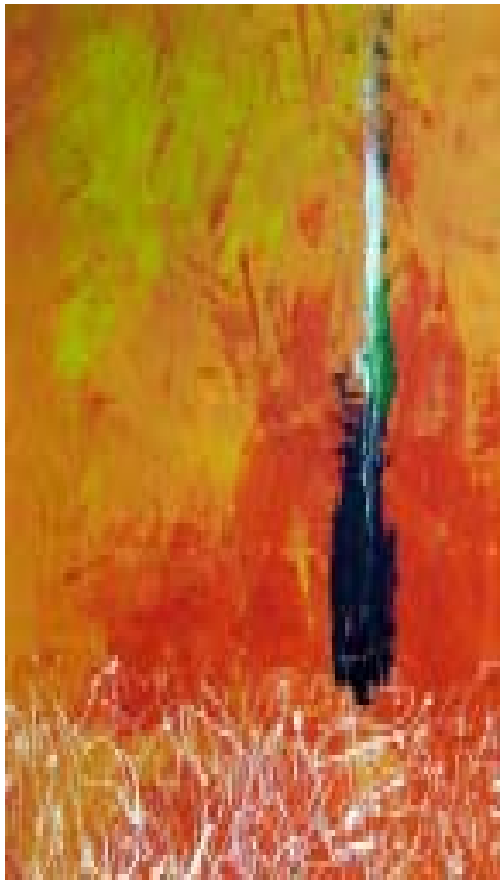

दकियानूसी अभी भी हमारे अंदर दीमक की तरह मौजूद और अपना प्रभाव दिखा रही है। संग्रह की एक कहानी 'अब भी गांव में रहती है वो' में कुछ इसी तरह का मामला है। ढलती उम्र में अविवाहिता लड़कियां, घर वालों का भी दुर्व्यवहार उनके प्रति, उससे उपजा डिप्रेसन और फिर इलाज के नाम पर ओझा-सोखा, झाड़-फूंक। इन सबका ताना-बाना बड़े करीने से बुना है कहानीकार ने।

प्रेम, विडंबना और पुनः मिलना इस विषय पर ढेर सारी कहानियां लिखी गई हैं और इस विषय पर ही केंद्रित कहानी है 'और दिन पलाश हुए' पर एक खासियत के साथ कि लड़की प्यार पर भरोसा करते हुए अलग होने की परिस्थिति में ताउम्र अकेले रहने का निर्णय लेती है और यही कहानी का मूल बिंदु है कि लड़का बिछड़कर भी अकेले रहते हुए उसका इंतजार करता है, फिर अचानक एक दिन दोनों का मिलन होता है। मगर गौरतलब है दोनों अपनी अलग-अलग दुनिया में मशगूल होने के बावजूद एक-दूसरे को भूल नहीं पाते। गालिब याद आते हैं :

''गो मैं रहा रहीन-ए-सितमहे रोजगार
लेकिन तेरे ख्याल से गाफिल न रहा''

'थमते-थमते सांझ हुई' प्रतिशोध लेने की कहानी है। एक प्रेमिका को जब पता चलता है कि उसके प्रेमी ने धोखा दे दिया है तो वह प्रतिशोध लेने के लिए वेश्यावृति की तरफ उन्मुख हो जाती है, क्योंकि प्रेमी को वेश्याओं से नफरत थी। यह कहानी प्रतिशोध के तरीके के कारण कमजोर होती है। यहां कहानीकार अगर थोड़ा-सा भी ध्यान देता तो इसे और मजबूत कहानी बनाया जा सकता था, आखिर प्रेमी ने जब धोखा दे ही दिया तो प्रतिशोध में उसके नापसंदगी के काम करना, ये कौन-सी बात है और दूसरी बात कि प्रतिशोध के और भी जायज तरीके हो सकते थे।

संग्रह की अच्छी कहानियों में 'नीम अंधेरे में है', ये उस बेबसी को बड़े मार्मिक तरीके से बयां करती है जो अमूमन हमें देखने को मिलती है कि एक अमीर लड़का और एक गरीब लड़की साथ में हिंदू-मुस्लिम फैक्टर भी। कहानी थोड़ी फिल्मी हो गई मगर और तत्त्व कहानी को मजबूत बनाते हैं। संग्रह की कहानी 'चकबंदी' इस मायने में गौरतलब है कि इसका विषय सबसे अलग है। इसमें एक शोषित मजदूर के विद्रोह को दिखाया गया है कि किस तरह चकबंदी के नाम पर जमीन हड़प ली जाती है और बेबस लोगों पर अत्याचार किया जाता है।

संग्रह की अन्य कहानियों की पठनीयता और उनकी महत्ता स्वयमेव सिद्ध है कि आप उस दुनिया से रू-ब-रू ही नहीं होते हैं, बल्कि संवेदना के धरातल पर ये कहानियां आपको सोचने पर मजबूर करती हैं। संग्रह पाठक वर्ग में पसंद किया जाएगा, इसकी मुझे पूर्ण उम्मीद है।

*गालिब के शे'र का मिसरा।

नीले पंखों वाली लड़कियां/हुस्न तबस्सुम 'निहां'/ स्वराज प्रकाशन, 4648/1-21, प्रथम तल, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 395

शोध-छात्र, हिन्दी काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी, मो. 08010583076

लोक जीवन की अभिव्यक्ति

रवि रंजन कुमार

आधा दर्जन कहानी-संग्रह और दो उपन्यासों के लेखक क्षितिज शर्मा। अल्मोड़ा की माटी, आबो-हवा शब्द बनकर उनकी कहानियों में अभिव्यक्त होते हैं। बिल्कुल सहज भाषा, सरल शब्द और लोक-जीवन से विषय-वस्तु का चुनाव, कहानी पाठक के हृदय पर छप जाती है। विषय-वस्तु की विविधता इस संग्रह की सबसे बड़ी खासियत है। संग्रह की पहली कहानी 'भ्रमित' से लेकर अंतिम कहानी 'तुम नहीं समझोगे' तक लेखक ने पूरे सामाजिक पटल को मानो खंगाल दिया है। राजनीतिक मुद्दों को उठाती कहानियां 'ढाक के तीन पात', 'चुनाव दूर नहीं', 'शेरपुर की पुण्यात्मा' आदि तो हैं ही 'भ्रमित', 'यों मिलेगा मोक्ष', 'धर्मसंकट' जैसी विधवा स्त्री के संघर्ष को सामने लाने वाली कहानियां भी यहां मौजूद हैं। शीर्षक कहानी 'ढाक के तीन पात' शुद्ध रूप से राजनीतिक भ्रष्टाचार को उधेड़ती है लेकिन लेखक के कलम की असली ताकत संग्रह की पहली ही कहानी 'भ्रमित' में नजर आती है, जिसमें सामाजिक समस्याओं से घिरीं दो विधवाओं, उनके आपसी संबंध का बड़ा ही मार्मिक चित्रण मिलता है। मनोवैज्ञानिक रूप से मानव-मन का ऐसा सूक्ष्म चित्रण अद्भुत है।

लेखक को पहाड़ी संस्कृति से अदम्य प्यार है। मगर यह प्यार सब कुछ सुंदर-सुंदर ही नहीं दिखाता, उस सुंदरता के पीछे छिपे दुर्गुणों को भी दिखाता है। या यूं कहें दुर्गुणों को दिखाने के क्रम में ही पहाड़ी खूबसूरती छनकर दिख जाती है।

छोटी-छोटी घटनाएं। मसलन किसी की मौत, दुकान में चोरी, विधवा पर किए गए कमेंट, संपत्ति विवाद आदि, लेखक महज इन घटनाओं का वर्णन नहीं करता, वरन् इनके माध्यम से घटना के कारणों के स्रोतों की छानबीन करता है। मगर यहीं लेखक सचेत है। वह प्रगतिशील सोच के साथ खड़ा है और रूढ़ियों के विरोध में।

एक बात और स्पष्ट कर देना होगा। पक्षधरता का यह मतलब नहीं कि वह क्रांति करने उतर गया हो। लेखक के अंदर एक बेचैनी है। वह बेचैनी कलम के रास्ते बाहर भी निकलती है। वह संवेदनशील है। उदास होता है। वह देखता है। आलोचना करता है। उसके सारे नायक आलोचना करते हैं। कहानी-संग्रह कुमाऊंनी संस्कृति, पहाड़ी जिंदगी की कठोरता का शब्द-दर-शब्द अहसास कराता चलता है। पहाड़ की कठोर जिंदगी, बुनियादी जरूरतें, गरीबी, जातिवाद,

अवैध शराब का धंधा और शासन में उनका दखल, पानी की समस्या, राजनीति का गिरता स्तर, स्थानीय स्तर पर उसके प्रभाव, गिरते जीवन मूल्य और परिवर्तन के लिए छटपटाते युवा—यह संग्रह अपने अंदर एक पूरे समाज के स्वप्न को समेटे है।

एक खुले समाज का स्वप्न, रूढ़ियों से मुक्ति का स्वप्न। मुक्ति का मतलब क्या? किससे मुक्ति? किसी यूटोपियायी समाज के निर्माण का ध्येय तो हरगिज नहीं। हो भी नहीं सकता। क्योंकि लेखक सचेत है। अपने समय में, जीवन में धंसा है। इसके शब्द पहाड़ी मिट्टी की तरह हैं जो लगने पर चोट पहुंचाते हैं।

राजनीतिक अराजकता और सड़ चुकी सामाजिक मान्यताएं, संपूर्ण भारतवर्ष में इस मामले में एक अद्भुत साम्य है। क्या पहाड़ और क्या मैदान, क्या उत्तर, क्या दक्षिण, देवदासियों के समय से लेकर वर्तमान में खाप पंचायतों तक स्त्रियां दोहरे शोषण की शिकार रही हैं। लेखक के स्त्री पात्र इस शोषण के खिलाफ प्रतिरोध करते हैं। देह यहां उपस्थित है अपनी पूर्णता की आकांक्षा लिए। काकी कहती है, ''जीवन है तो पेट भी है और देह भी है। भूख पर काबू पाना किसके बस की बात है। कहने को कितनी बड़ी-बड़ी बातें कर लो। दूसरों को कहना आसान है, खुद करने में मुश्किल।'' काकी एक रूढ़िवादी पात्र है, मगर नादान नहीं। दुनिया देखी है, खुद अपनी जवानी में...। वह अपनी बहू को समझती है। उसके अन्दर एक गृहणी है जो अपनी जरूरतों को जानती है। मर्यादा, परंपरा और जरूरत—एक भ्रम। जीत जरूरत की होती है। मर्यादा से समझौता कर लिया जाता है। समय के साथ

सामाजिक मर्यादाओं के रंग में रंग चुकी काकी अंततः अपने अंदर के स्त्री-मन को पहचानती है, उसकी आवाज सुनती है और अब जवान विधवा बहू के दर्द को समझ उसे समझाती हैं—मर्यादा का चावल भात बन पेट भरने के काम आता है। यह घोर यथार्थवादी कहानी है, बिल्कुल यथार्थ की भूमि में धंसी।

राजनीतिक और सामाजिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक स्तर पर उतरकर भी समस्याओं का मूल्यांकन इस संग्रह की कहानियों की खासियत है। दंगा, पलायन जैसी मुखर राजनीतिक चुनौतियों के साथ-साथ आईसीयू में जिंदगी और मौत से लड़ते मरीज की मनःस्थिति को कहानी का विषय बनाया है। निरंतर जिंदगी और मौत से जूझते, बिस्तर पर पड़े मरीज के पास आईसीयू में काम करने वाली नर्सों, उनके स्वभाव की पड़ताल करना ही एक मात्र काम है। मौत के करीब रहकर भी हंसी-मजाक। रोज-रोज मौत को इतने नजदीक से देखने के कारण नर्सों का ऐसा विरेचन हो चुका है कि दर्द से चीखते, कराहते मरीजों के बीच भी वे हंसी-मजाक कर लेती हैं। जो परिस्थिति नायक को भयभीत कर रही है, नर्सों को सामान्य लग रही है। जैसे काम ही आदमी का स्वभाव तय करता हो। जैसे संवेदना परिस्थितिजन्य भी होती है। कुछ-कुछ वैसा ही जैसे दंगे का असर समाज के हर तबके पर एक-सा नहीं पड़ता। स्त्रियां महज वस्तु हो जाती हैं और पुरुष का अहं तुष्टि का माध्यम। और बच्चे...? दंगे का असर एक बच्चे पर कैसा होता है? लेखक ने मनोवैज्ञानिक तरीके से इस समस्या को अपनी कहानी 'सवेरे की प्रतीक्षा करो' में उठाया है। कल तक जो दोस्त सामान्य दिनचर्या के अभ्यस्त थे, मेल-मिलाप से जी रहे थे, अचानक उनके बीच तल्ख़ी आ गई है। क्रिकेट का खेल, खेल न होकर कुछ और हो गया है। अविश्वास। सड़क मानो सीमा हो और कुछ मीटर की दूरी मीलों में बदल गई। वही चेहरे जो कल तक सामान्य से नजर आते थे, एकाएक डराने लगे हैं। और इसका फायदा उठाते राजनेता और उनकी अवसरवादिता। इस अवसरवादिता ने पहाड़ों में जो पिछड़ापन पैदा किया, उसने पलायन संबंधी समस्या उत्पन्न की है।

पलायन एक ऐसी समस्या है जिसने और बहुत-सी समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है। एक तो दस-पांच घरों का गांव, तिस पर सारे काम करनेवाले युवाओं ने शहरों का रुख किया। पीछे रह गए कुछ वृद्ध और स्त्रियां—अपने अभावों में घिरीं। अभिशप्त। दूसरी तरफ पलायन भी सुख लेकर आए ही, जरूरी नहीं। अक्सर शहरों की तरफ रुख करने वाले युवा वहां दूसरे तरह के दुश्चक्रों में फंस जाते हैं। फिर शुरू होता है संघर्ष का अनवरत सिलसिला। प्रवासियों के दुःख-दर्द, उनकी मनःस्थिति को दिखाते हुए लेखक की 'योगदान', 'उम्मीद न कर मेरे भाई', 'यों मिलेगा मोक्ष' जैसी कहानियां इस संग्रह में मौजूद हैं। किशन चाचा, भागुली जैसे पात्र दर्द और शोषण के दो अलग रूपों को जीते हुए समाज की दो अलग तरह की विसंगतियों को बेनकाब करते हैं। किशन सिंह वह पिता है जो उम्मीद की डोर से बंधा अंतिम सांस तक बेटे की भलाई के लिए प्रयासरत है। किशन सिंह की बीमारी से मौत तक की यात्रा—बेरोजगारी, गरीबी और शहरी मजदूरों के दुःख-दर्द की भी यात्रा है।

भागुली का चरित्र तो और भी आकर्षक है। अपनी सास की मौत के बाद अपने जीवन और संपत्ति के लिए जूझती विधवा और निराश्रित भागुली उन तमाम रूढ़ियों के खिलाफ विद्रोह कर देती है जिनकी आड़ में कुछ ललचाती आंखें उसके संपूर्ण अस्तित्व को लील लेना चाहती हैं।

छोटे कस्बों में राजनीति का रंग कुछ अलग होता है। अपेक्षाकृत सरल और कम पढ़े-लिखे लोगों को परंपरा के नाम पर, धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर बरगलाना कहीं आसान है। समुदायों में बंटा ग्रामीण और कस्बाई समाज अक्सर अपनी सीमाएं लांघने में हिचकता है और कुछ चालाक लोग इसका फायदा उठाते हैं। 'चुनाव दूर नहीं' कहानी का कुंदन सिंह एक ऐसा ही पात्र है। इसके माध्यम से शासन और स्थानीय प्रतिनिधि का शोषक रूप दिखाया गया है। किस तरह छोटे इलाकों में स्थानीय नेता पैदा होते हैं। शिक्षा की कमी, प्रशासन का

डर, परंपरावादी सोच और इज्जत का डर थोड़े से चालाक आदमी के लिए आगे बढ़ने की राह बना देते हैं। संग्रह की प्रतिनिधि कहानी 'ढाक के तीन पात' भी राजनीति की ऐसी ही त्रासद अवस्था व्यक्त करती है। राजनीति में छीजते मूल्य और परिणामस्वरूप ग्रामीण जीवन में बढ़ती निराशा और अवसाद को कहानी में उठाया गया है। 'शेरपुर की पुण्यात्मा' भी इसी तरह की समस्या को उठाती है। वहीं 'डर' कहानी में पब्लिक-प्राइवेट सेक्टर में फर्क को दिखाया गया है। दफ्तर में डर और अनुशासन से ज्यादा आपसी विश्वास और मेल-मिलाप के महत्त्व को स्थापित करता है।

इस कहानी-संग्रह में क्षितिज शर्मा पहाड़ी जीवन की एक संपूर्ण झांकी प्रस्तुत करने में सफल रहे हैं। पहाड़ी समाज की समस्याओं से दो-चार कराती ये कहानियां निश्चय ही पाठकों को अंदर तक झकझोर देती हैं। यद्यपि कथानक की विविधता उनकी शक्ति है, मगर शिल्प में दोहराव, कहीं-कहीं बोझिल कर देने वाले प्रसंग पाठ को शिथिल कर देते हैं। सामाजिक सरोकारों से इतर पाठ को आधार बनाया जाए तो संग्रह की तीन-चार कहानियां आकर्षक हैं। बाकी सामान्य ही कही जाएंगी।

ढाक के तीन पात/क्षितिज शर्मा/मेधा बुक्स, एक्स-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ₹ 200

द्वारा राकेश चौहान, 26, समसपुर जागीर (प्रथम तल), पांडव नगर, ट ब्लॉक, दिल्ली-110092, मो. 9968259401

प्रतिगामी समय के प्रतिरोध में

रेवतीरमण

हिंदी की मुख्य धारा के कवियों की प्रचुर प्रजनन-प्रतिभा को देखते हुए आलोकधन्वा या नरेश सक्सेना जैसे जो अपवाद हैं, पाठकों को उनके नए संग्रह का इंतजार करना पड़ता है। इंतजार इस वजह से ही नहीं कि ये उत्पादन-कृपण हैं। इसलिए भी कि इनका मुक्त वृत्त श्रेष्ठ प्रगीत जैसा ही प्रस्तुति में अचूक प्रभावाभिव्यंजक होता है। मंचीय कविता के कुत्सित सरलीकरण और व्यापक व्यवसायीकरण के बरअक्स इन्हें तकनीक के समुन्नत रूप की गहरी समझ है। आज के कविता विश्व में पद्य की मधुर झंकार की जगह गद्यमय विचार-व्यवस्था मिलती है, जो गहरे रचना-स्तर पर प्रतिरोध की संस्कृति है। जाहिर है, कविता-पृथ्वी भूख का राज्य हो तो पकती हुई रोटी पूर्णिमा का चांद लगेगी ही। इस परिदृश्य में नरेश सक्सेना की प्रतिबद्धता लोक-संवेदना को समृद्ध ही करती है, कभी प्रहसन नहीं बनने देती। नवगीत के गलियारे से निकलकर वह मुक्त कविता के खुले क्षेत्र में आते हैं तो एक अवधारणा के साथ आते हैं। उनके ही शब्दों में, ''फूलों पर लिखी गई कविता भयानक विस्फोट का माध्यम भी बन सकती है। जैसे फोड़े में चीरा लगाने की प्रक्रिया। कविता ऐसी जो पाठक को विचलित करे, भाव-बोध का परिष्कार करे और दृष्टि को बदल दे। मनुष्यता को ऐसा दस्तावेज जो अपने समय के अन्याय और क्रूरता को चुनौती देता हो। कविता ऐसी जो बुरे वक्त में काम आए, जो हिंसा को समझ और संवेदना में बदल दे। ऐसी कविता जो हमें बच्चों जैसा सरल और निश्छल बना दे, कौतूहल और प्रेम से भर दे।' नरेश सक्सेना की संकल्पना में 'कविता की तासीर' यह है—

पांव जैसे पड़ जाय सांप पर
चढ़े ऐसी थरथरी
बिच्छू ने मार दिया हो जैसे डंक
या बरैयां पीछे पड़ गई हों
कविता भी पीछे पड़ जाय

रघुवीर सहाय चाहते थे कि उनके काव्य-पाठ के बाद श्रोता-समूह में सन्नाटा व्याप्त हो जाए, स्तब्धता छा जाए। नरेश सक्सेना चाहते हैं कि उनकी कविताएं सुनकर वाह नहीं सुनने वालों के होंठों से आह निकले। याद करें तो कभी ज्ञानरंजन ने कहा था, 'कविता जीवन के काम में आने लगी है।' नरेश सक्सेना स्वभावतः गीत की संवेदना के कवि हैं। उन्होंने श्रेष्ठ नवगीतों की रचना की है। वह पिछले पचास-पचपन

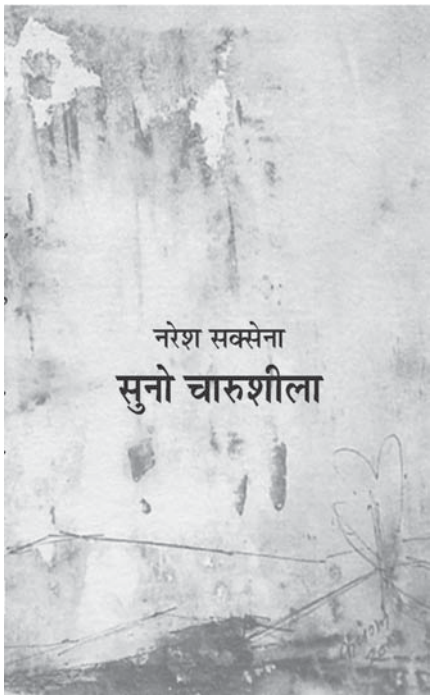

वर्षों से कविता लिख रहे हैं। उनकी मुक्त कविताओं की पहली किताब थी—'समुद्र पर हो रही है बारिश', उसमें कविताएं शीतयुद्ध के अंत का परिप्रेक्ष्य रचती हैं। उनका दूसरा संग्रह अभी-अभी 'सुनो चारुशीला' नाम से आया है। यह अधिक अर्थसघन है और कदाचित कवि की प्रकृति और विचार-व्यवस्था को जानने का आत्मीय जरिया भी।

इस पुस्तक का नामकरण जिस कविता के शीर्षक के आधार पर हुआ है, वह वस्तुतः एक शोकगीत है। निधन किसी का हो, एक संवेदनशील मनुष्य के लिए त्रासद ही होता है। नरेश सक्सेना की 'सुनो चारुशीला' कविता कम, पत्नी-निधन पर मार्मिक विलाप अधिक है। उम्र के एक विशेष पड़ाव पर सहधर्मिणी का शाश्वत बिछोह जिंदगी को वीराना कर जाता है। इसमें रंग का रंग से, बादल का बादल से और नदी का नदी से बिछुरना हुआ है तो दांपत्य-रति के प्रगाढ़ होने की अर्थ-व्यंजना अलक्षित नहीं रह जाती। जबकि 'रंग' पर इस संग्रह की पहली ही कविता है। वह सांप्रदायिकता की बलि चढ़ गई है और उसमें एकांत श्रीवास्तव वाली बात नहीं पैदा हो सकी। सांप्रदायिकता का सामना करते हुए इस संग्रह में कुछ और कविताएं द्रष्टव्य हैं। जैसे—ईश्वर की औकात, ईश्वर, गुजरात आदि। इनमें अनुभूति के स्तर से कवि हिंदुत्व की व्याधियों से जूझ रहा है। इस संग्रह की दूसरी कविता 'मछलियां' में वात्सल्य की उपलब्धि हुई है। यह नागार्जुन की 'तालाब की मछलियां' नहीं है, न अज्ञेय की 'कांच के पीछे हांप रही मछली'। यह नवगीत के मछेरे के जाल में फंसने वाली मछली नहीं है। नरेश सक्सेना ने उसका कैरेक्टर ही बदल दिया है। यों, ऐसी एक

कविता भगवत रावत की भी है—

'लगभग चार बरस की बिटिया ने
मां से
हाथ फैलाते हुए कहा
दादी की किताब में
इत्ता बड़ा समुद्र है
मां ने आश्चर्य जताते हुए कहा
अच्छा! हां
बिटिया ने कहा
देखो, मैंने उसमें उंगली डाली तो भींग गई।'

नरेश सक्सेना की कविता में मछली का चित्र पापा को बनाना है। उसकी पूंछ और सिर की जगह राखी ही तय करती है और मां के बुलाने पर जाते-जाते कहना नहीं भूलती—

'साफ पानी लिखना पापा'। 'दाग-धब्बे' कविता कॉमनसेंस की अंडरस्टैंडिंग से टकराती है और कुल मिलाकर कफन की मुखालफत है।

'जहां-जहां होता है जीवन
हवा, पानी, मिट्टी
और आग जहां होते हैं
धब्बे और दाग जरूर वहां होते हैं।'

कवि में निषेध और नकार की मुद्राएं जीवन और जन के पक्ष में मनीषा हैं। 'पीछे छूटी चीजें' कविता में तारों के टूटने की आवाज सुनने की कोशिश है। कई बार जिस काम में कवि की रुचि नहीं होती, वैज्ञानिक करता है। 'सन्नाटा' की फलश्रुति है उन प्रेय संसाधनों की आसक्ति, जिन्हें हम बहुत पीछे छोड़ आए हैं। 'अजीब बात' कवि को यह लगती है कि 'हमारी संस्कृति में पांव ही पूजे जाते हैं, हाथ नहीं।' इसे कहा जिस ढंग से गया है, पढ़कर पाठक का मन प्रश्नाकुल हो उठता है। यह सनातन से तनातनी नरेश सक्सेना की अधिसंख्य कविताओं का अभिप्राय है। वह धारणाओं के लिए संकट पैदा करता है।

नरेश सक्सेना को जहां अपने इंजीनियर होने का अहसास अधिक होता है, प्रहार ज्ञानोद्धत हो उठता है। 'चीटियां' पर अस्सी के दशक में ज्ञानेंद्रपति ने लिखी थी। नरेश सक्सेना उसे नया अर्थ देते हैं, बताते हैं कि चीटियों को चीटियां समझना खतरनाक हो सकता है। 'चीटियां आदमखोर होती हैं और जिंदा अजगर तक खा डालती हैं।' 'नीम की पत्तियां' कविता का वर्ण्यविषय है स्वाद में कड़वा, किंतु स्वास्थ्य के लिए उपयोगी और देखने में सुंदर की पक्षधरता। नीम हमारे जातीय जीवन में शामिल रहा है। नई कविता के दौर में नामवरजी का जो संग्रह प्रकाश में आते-आते रह गया, वह था 'नीम के फूल'। अज्ञेय का एक गीत है—

'सखि आ गये नीम को बौर
हुआ चित्रकर्मा वसंत अवनीतल पर
सिरमौर।'

प्रसंगवश, केदारनाथ सिंह याद आते हैं—

'झरने लगे नीम के पत्ते
बढ़ने लगी उदासी मन की।' आदि।

नरेश सक्सेना नीम की पत्तियों की सुंदरता पर मुग्ध हैं—

'कितनी सुंदर होती हैं पत्तियां नीम की
ये कोई कविता क्या बताएगी।'

इसे खाकर बकरी मीठे दूध देती है (सच?) और मां उससे अपने शिशु का इलाज करती है। इसमें ये पंक्तियां भी आती हैं—

'नीम की पत्तियों की सुंदरता कैसी है, पूछो उस मां से
जिसने अपने शिशु को किया है निरोग
उन पत्तियों से
जिसके छप्पर पर उनका धुआं ध्वजा की तरह लहराता है
और जिसके आंगन में पत्तियां आशीषों की तरह झरती हैं।'

इसमें धूमिल की अंतिम कविता का तेवर है। वैसे, नरेश सक्सेना की पर्यावरण संवेदना ज्यादा सजग है। उन्हें उद्भिज और वन्यजीवन का गहरा ज्ञान है। नीम और पीपल और चीड़ की पत्तियों को अधिक समीप से उन्होंने देखा है और सुंदर और कुरूप, कोमल और कठोर उसके दोनों रूपों पर उनकी दृष्टि पड़ी है।

चीड़ 'आकाश में तने हुए भालों-से ऊर्जस्वित और तपस्वियों-से स्थितप्रज्ञ' जान पड़ते हैं। उसकी सूखी पत्तियां पैर से दबने पर शीशम और महुए की पत्तियों-सी चुर्रमुर्र नहीं करतीं, बल्कि, वे 'पटखनी दे सकती हैं, खून बहा सकती हैं और प्राण भी ले सकती हैं।' वैसे, पहाड़ी ढलानों पर वे 'साधारण, सरल और सुंदर' दीखती हैं।

'चीड़ लदे ट्रक पर' में प्रकृति और प्राणियों के प्रति कवि स्वभावतः संवेदनशील है। इसमें, विकास का मौजूदा मॉडेल कठघरे में खड़ा हो जाता है। कवि लिखता है—

'हैं डिंग सौंग औ' चीड़ लदे ट्रक पर
कितनी चिड़ियों के नीड़ लदे ट्रक
पर पर्वत, नदियों, झरने, हिरने
लदकर बाजार चले बिकने
है हत्यारों की भीड़ लदे ट्रक पर
कितनी चिड़ियों के नीड़ लदे ट्रक पर।

यह कविता केदारनाथ सिंह की 'पशु मेला' की याद कराती है। कातिक की शाम, ददरी मेले में बिकने को जा रहे ट्रकों पर लदे बैल उसमें आपस में बतियाते हैं—'भैया, मेला अभी कितनी दूर है।' (अकाल में सारस, पृ. 80-81) नरेश सक्सेना 'कितनी चिड़ियों के नीड़ लदे ट्रक पर' की पुनरावृत्ति से एक संगीत पैदा करते हैं। वे छंद में इतिहास का संदर्भ नया करते हैं। 'घास' कविता में अत्यंत तिरस्कृत का पक्ष है—

कहां गये सब घोड़े अचरज में डूबी है घास
घास ने खाये घोड़े या घोड़ों ने खाई घास
सारी दुनिया को था जिनके कब्जे का अहसास
उनके पते ठिकानों तक पर फैल चुकी है घास। (पृ. 55)

यह गालिब के 'दरोदीवार पर उग रहे सब्जा' से अधिक तनावग्रस्त व्यंजना है, लगभग नागार्जुन वाले अंदाज में—'बाल न बांका कर सकी शासन की बंदूक' का अगला पड़ाव। छंद में प्रतिरोध की संकेत-व्यंजना वशीभूत हो तो मुक्तछंद अनिवार्य नहीं। किंतु यथार्थ के आग्रह से नरेश सक्सेना भिन्न शैलियों का उपस्थापन करते हैं। उन्होंने नज्म भी लिखी है—'एक घायल दृश्य' के आरंभ के दो छंद अद्भुत हैं—

टूट पड़ती किसी गहरी सांस की आवाज
रिक्त घर के मौन में कुछ और जुड़ जाता
डूब जाती पास से आती हुई पगध्वनि
द्वार तक आकर न जाने कौन मुड़ जाता
दस्तकें देते गुजर जाते सभी झोंके

बंधे जल के बीच कंकर फेंक देते हैं। (पृ. 56)

इस संग्रह में कुछ ऐसी भी कविताएं हैं, जिनमें अनुभव से अर्जित युक्तियां अद्‌भुत-अप्रतिम रच जाती हैं। जैसे—'गिरना' और 'संख्याएं'। 'गिरना' में विज्ञान-बोध कारगर है, गैलीलियो द्वारा अरस्तू के विखंडन का संदर्भ है। सर्वोपरि, हवा की भूमिका है। गिरना सहज है उठना सायास। नरेश सक्सेना गिरने को नया-नया अर्थ देते हैं—

'गिरो प्यासे हलक में एक घूंट जल की तरह' या 'गिरो पहली ईंट की तरह नींव में/किसी का घर बनाते हुए...' तो उद्‌बोधन को भी सार्थकता मिलती है। लेकिन उल्का की तरह, वज्र की तरह गिरने का क्रांतिकारी आशय अंत को उत्कर्ष पर ले जाता है।

'गिरने' से कम व्यंजक 'संख्याएं' नहीं हैं। यह इक्कीसवीं सदी का देह विमर्श है। इसमें एक देह की दो आंखें हैं। तीन अंगुलियों के जोड़, चार हिस्से हृदय के, अंगुलियों की संख्या पांच, रसना के लिए षड्‌रस ऐसे ही अन्य संख्याएं। मान्यता है कि वर्णमाला में अंकों की उत्पत्ति एक-दो-तीन अंगुलियों से ही हुई। नरेश सक्सेना कहना यह चाहते हैं कि शब्द तो बहुत बाद में आए, संख्याएं हमारे जन्म के साथ हैं। इस अनुसंधान को उन्होंने 'मजेदार खेल' कहा है तो ठीक ही कहा है। मुक्त कविता रस या अनुभूति के सिवा ज्ञानानुशासन के कर्तव्य से भी अनुप्राणित है।

इस संग्रह में चट्‌टानें, मिट्‌टी, मुर्दे, शिशु, धूप, दीवारें, दरवाजा और सूर्य-जैसी संक्षिप्तकाय कविताएं सघन अर्थान्विति के कारण अलग से ध्यानाकर्षण कर पाती हैं। इनमें समय का संताप संवेदना है पर ज्ञान का निषेध करके नहीं। कवि ने सूर्य की विकलांगता चित्रित की है तो वैज्ञानिक कारणों से भी। किंतु जनपक्षीय मनोभूमि पर वह धूप के प्रति उपालंभ लिखता है। दीवारें और 'दरवाजा' में होने, न होने की द्वंद्वात्मक प्रयुक्तियां हैं। 'इतिहास' में सबाल्टर्न की संस्तुति है।

इस किताब में भूमिका (पूर्व कथन) भी है, जिससे हम नरेश सक्सेना के बारे में जान पाते हैं। वह बोलकर लिखते हैं। इससे लय आ जाती है। वह पुनः-पुनः याद दिलाते हैं कि इंजीनियर हैं। 'मिट्‌टी, ईंट, सीमेंट, लोहा, नदी, पुल उनकी रोजी-रोटी के साधन रहे हैं तो सोच के केंद्र में वे ही होंगे।' पर बात ऐसी नहीं है। उनका ही साक्ष्य है—

चूने को देखूं या रेत
या पत्थरों का ढेर
दीवारें देखूं या छत या लकड़ी का दरवाजा
एक चेहरा दिखाई देता है... (पृ. 34)

भूमिका में कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएं हैं। उन्हीं में यह एक स्वीकृति भी है कि ''फिल्में बनाते हुए, नाटक लिखते हुए, संगीत संरचनाएं बनाते हुए या इंजीनियरिंग की समस्याएं हल करते हुए मैंने लगातार महसूस किया है कि गणित, विज्ञान, संगीत, कविता या अन्य कलाओं का कोई विरोध आपस में नहीं होता, बल्कि एक आन्तरिक संगति होती है।'' इसके दृष्टांत इस संग्रह की कविताओं में उपलब्ध हैं। हम उनके इस कथन से सहमत नहीं हैं कि 'साहित्यिक भाषा मुझसे सधती नहीं है।'

संक्षेप में, अधिसंख्य कविताएं अवसादग्रस्त हैं। 'युद्ध हारा जा चुका है'—ब्रेख्त ने जैसा कहा था, के परिदृश्य में भुखमरी है, रोजगार का अभाव है, लाचारी बढ़ रही है तो नरेश सक्सेना उत्तर आधुनिकता के दौर को नैराश्य से अप्रभावित नहीं देख पाते। कई कविताएं अंधेरे में यात्राएं हैं। कवि की आत्मालोचना प्रत्येक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का परिप्रेक्ष्य है। इसमें आत्म-प्रत्यय उस मैल की तरह है जिस पर तेजाब की तरह वह अपने बच्चे को आने को कहता है। इसमें पानी और पत्थर के बिंब कवि की समृद्ध स्वकीयता का पता देते हैं।

'आधा चांद मांगता है पूरी रात' में आधे-अधूरे का वृतांत है तो उसमें पूर्णता की आकांक्षा का उपजीव्य भी आधा-अधूरा ही है। नरेश सक्सेना के अंतर्मन में जो बजती हुई वीरानगी है, वह भाषा के बाहर भी भाषा के उद्‌गम की थाह लेती है। उनमें उस अनाधुनिक—आदिम से संवाद की हिकमतें हैं—जब मनुष्यों के पास भाषा नहीं थी। बेजुबान की जबान बन जाना सभ्यता-क्रांत समाज में एक कवि का ही काम होता है। यह कोशिश हमें मुक्तिबोध में मिलती है—'मैं उनका ही होता जिनसे मैंने रूप-भाव

पाए हैं।' उनका परम अनिवार आत्मसंभवा अभिव्यक्ति की तलाश में पहाड़ों-पठारों में भटकना समकालीनता के भीतर है। नरेश सक्सेना का अनुसंधान इसी लोक में, इस व्यवस्था का विकल्प ढूंढ़ने-जैसा है। वह कभी उन फूलों से प्रतिकृत होते हैं, जो खुशबुएं लुटाने आते हैं तो कभी उन प्रवासी पक्षियों को प्रतिबिंबित करते हैं जिन्हें उन्मुक्त उड़ान के लिए ऊष्मा चाहिए।

नरेश सक्सेना आत्म-सजग हैं, किसी हद तक शिल्प-सजग भी। उनका देखना आर-पार देखना है। वह जंगल को देखते हैं—पिंजरे और छुरियों के साथ बहेलिये को भी। उनमें बिंब का व्यामोह नहीं है, कम हुआ है। विचार-बिंब सामाजिक सत्य के सापेक्ष आते हैं। गति है तो समतल पर ही नहीं, ऊंचाई पर भी। लेकिन चढ़ते चले जाने की विडंबना वह जानते हैं—

सीढ़ियां चढ़ते हुए
जो उतरना भूल जाते हैं
वे घर नहीं लौट पाते।

—तीन पंक्तियों की यह कविता हमें बेचैन कर जाती है।

सुनो चारुशीला/नरेश सक्सेना/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110003/ मूल्य : ₹ 100

22, रीडर्स क्वार्टर, यूनिवर्सिटी कैंपस, मुजफ्फरपुर-842001, मो. 9006885907

गुमशुदा उम्मीदों की निशानदेही करती कविताएं

विपिन चौधरी

अरुण कमल समकालीन हिंदी कविता में एक प्रतिष्ठित नाम है, चार कविता संग्रहों से समृद्ध रचना संसार के बाद 'मैं वो शंख महाशंख' नाम से उनका नया संग्रह प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत संग्रह में उनकी 2005 से 2010 वर्ष के दौरान लिखी कविताएं शामिल हैं। अरुण कमल ने इस संग्रह में हाशिये पर धकेले गए लोगों के अंतर्मन की निःशब्द पीड़ा को उजागर करते हुए अपने कवित्व का दायरा विस्तृत करने की कोशिश की है। जिस शंख का इस्तेमाल हमारे यहां उद्घोष, आह्वान और वातावरण में पवित्रता के लिए किया जाता है, उसी शंख के जरिए आह्वान का बिगुल बजाते सत्ताबाजों, नीतिनिर्धारकों की खिल्ली उड़ाते अरुण कमल, आम आदमी की आवाज को कविता के मनकों में पिरोते हैं। आम आदमी, जिसको हमेशा से ही सामाजिक संरचना में शामिल होने से रोका गया है, निरंतर दबाकर रखे जाने के बावजूद उस हाशिये के आदमी में महाशंख बनने की शक्ति सम्माहित है, कवि का ऐसा मानना है। अरुण कमल ऐसे लोगों के लिए सामाजिक उद्घोष करते हुए साहित्य जगत की प्रखर आवाज बनकर सामने आते हैं, पाठकों से रूबरू होते हुए कवि अरुण कमल अपने साथ लाते हैं वह शंखनाद, जिससे उत्पन्न हुई ध्वनि चारों दिशाओं में फैलकर जीवन में स्पंदन पैदा करती है। इस जोर से मारी गई फूंक से जीवन के सभी रुंधे हुए स्वर बाहर निकलकर आते हैं और देह के भीतर जमे हुए मृत अणुओं का विसर्जन भी हो जाता है।

कवि मन उस आम आदमी के साथ है, जो निपट अकेला है, चुटकी भर जमीन की आस पाले खट रहा है, वह मजदूर, जो चुपचाप अपनी पीठ पर बोरियां ढो रहा है, महानगर के किसी चौराहे में खुले आसमान के नीचे सो रहा है, सड़क के बीच दम तोड़ रहा है, दिहाड़ीदारों की गिनती में शामिल हो, खड़े-खड़े थककर बेहाल हो रहा है। जैसे-तैसे गुजर-बसर कर अपने जीवन का कद निकालते लोगों के पक्ष में लिखी गई ये कविताएं अरुण कमल के इस नए संग्रह की थाती हैं।

वे पाठकों के सामने उस दुनिया को रखते हैं, जो हमारी देखी-परखी तो है, पर समझी-बूझी नहीं, जिसे आज तक हम सभी तथाकथित कुलीन लोग नजरें बचाकर चलते आए हैं।

अरुण कमल, अपनी सुगढ़ शैली के अंतर्गत शब्दों को अधिक जाया होने से बचाकर महीन बुनावट वाली कविताएं सृजित करते हैं, जिसमें जीवन के रेशे-रेशे का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए कवि तलछट में जमी हुई जीवन की खुरचन को पाठकों की आंखों में

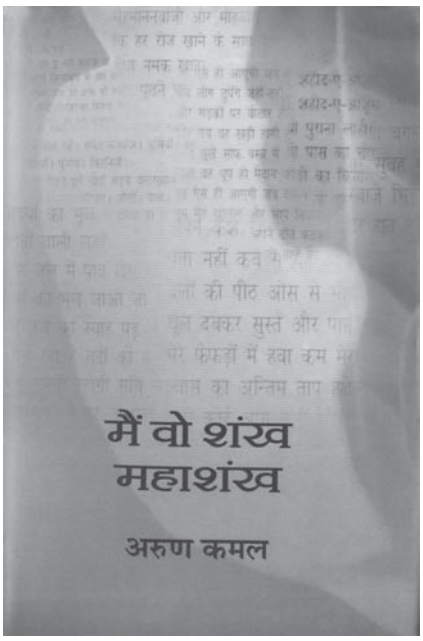

उंगलियां डालकर दिखाने का साहस कर दिखाते हैं। 'जनगणना' नामक कविता में अरुण कमल लिखते हैं :

> ''सरकारी आंकड़ों में वह कहीं नहीं है/जब भी उनकी गिनती गलत होगी/जब भी वे हिसाब मिला नहीं पाएंगे/मैं हँसूंगा आंकड़ों के पीछे से गालियां देता/वो मैं हूं मैं वो शंख महाशंख''

हर दस साल पर झूठे-सच्चे आंकड़े प्रस्तुत करके और उन आंकड़ों के हिसाब से योजनाएं बनाती सरकारों की छद्म कार्यवाहियां भी कवि की सजग निगाहों तले हैं। कवि उस हाशिये पर धकेले आदमी की आड़ में हमारी सामाजिक विडंबनाओं पर विद्रूप करता है।

अरुण कमल जितने सामाजिक संवेदना के कवि हैं, उतने ही राजनैतिक चेतना के भी कवि हैं। उनके स्वर में ठेठ देशी स्थानीयता से लेकर अंतरराष्ट्रीय स्वरलहरियां हैं। उनकी कविताओं में शामिल सर्जन पथ पर ईंट-गारा लेकर चलते हुए, जनगणना में छुटे हुए, बेबस और निर्बल, दूसरों के लिए अपने को गर्त वाले सेवक हैं, जो श्रम की अगुवाई में सबसे आगे रहते हैं। कवि इन्हीं लोगों के लिए गीत गाते-गुनगुनाते हुए अपनी सामाजिक चेतना के विस्तार में चले जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप 'निर्बल के गीत', 'सेवक', 'थूक' जैसी कविताएं अस्तित्त्व में आती हैं।

कवि अरुण कमल विलक्षण शब्द शिल्पकार हैं। उनकी कविताओं में बौद्धिकता, संवेदना, व्यंजना, बिंब, संवाद, विविधता, मार्मिकता, सामाजिक बोध एक साथ आ जुटते हैं, तब उनकी कविताएं एक सामाजिक निशानदेही में तब्दील हो जाती हैं, जहां निर्बलों की शिनाख्त की जाती है, जहां भूखों को तीनों

समय रोटी उपलब्ध है और जहां उनके श्रम का सही मूल्यांकन होने की पूरी उम्मीद की जा सकती है।

कविता 'वित्त मंत्री के साथ नाश्ते की मेज पर' में कवि इस विभाजक रेखा, जिसने लोकतंत्र का सत्यानाश किया है, के नजदीक पहुंचकर देखता है कि यह विभाजक रेखा सरकारपोश लोगों के पास आकर और भी घिनौनी शक्ल इख्तियार कर लेती है। 'जीभ की गाथा' कविता में कवि की व्यंजना शक्ति पराकाष्ठा पर जा पहुंची प्रतीत होती है, लेकिन कवि की ठिठोली सामान्य ठिठोली की शक्ल में नहीं है। वह उजागर व्यंजना शक्ति, जिसके दांत और जबड़े भींचे हुए होते हैं, एक हाजिरजवाब टेक के साथ बाहर निकलती है। कवि अपने कवि कर्म को परिमार्जित करते हुए उन सवालों पर अड़ा रहता है, जिनके सटीक जवाबों को सदियों से जबरन दबाकर रखा गया है। उन पुराने सवालों की तान पर ही कवि अपने बुलंद शब्दों के झंडे को सीधा तानता है। प्रस्तुत संग्रह में संपूर्ण और मांझकर निखरी हुई सुगढ़ भाषा का समावेश किया गया है, जो इस कदर साफ और स्वच्छ है कि पाठक उसमें अपने अंतर्मन की परछाइयों का मजमा देख सकते हैं।

अरुण कमल की कविता में जिस तरह का कसाव परिलक्षित होता है, वह युवा कवियों के समझने की चीज है। बिना किसी नोस्टल्जिया में धंसे हुए वे पुरानेपन की खुशबू में गोता लगाते हुए उसे अपने ऊपर काबिज नहीं होने देते।

> ''वे दिन गए जब तुम कच्चे आम
> गोर देती/चावल की कोठरी में और
> वे धीरे-धीरे पकते पुरातन का
> सौंधापन''

कवि के अंतर्मन में घुमड़ती चिंताएं इस शक्ल में सामने आती हैं कि 'क्या थे, क्या हो गए हम और क्या होंगे अभी', इसी भावना का विस्तार संग्रह की कई कविताओं में दिखाई देता है। अपने सहोदारों की अतृप्त कामनाओं से व्याप्त वायुमंडल, कवि के भीतरी तापमान को निरंतर घटाता-बढ़ाता रहता है।

समय की तान पर ढीले हो गए संबंधों की अबूझ पहेली से कवि लगातार जूझता हुआ दिखता है, तब 'संबंध' जैसी विलक्षण कविता सामने आती है :

> ''हम अलग हो चुके हैं/अलग-अलग
> हैं हमारे चूल्हे/और अलग-अलग
> जीवन/वह बच्चा अब सयाना है/और
> तुम भी ढल गई हो/फिर भी मैं कह
> नहीं सकता/यह कैसा संबंध है/मैं
> तुम्हारा देवर तुम्हारा पति तुम्हारा
> पुत्र''

'दूसरा आंगन' खंड की नौ कविताओं में कवि पड़ोसी देश में जाकर अपने देश को एक नई नजर से देखता, परखता और महसूस करते हुए उसे एक बिलकुल नए अहसास की तरह जीता है। कुछ दिनों के लिए अपने ही देश का पड़ोसी होने का यह एक नया अनुभव पाठकों के चिंतन को एक नया आयाम देता है।

कवि के चिंतन में सामूहिक जन-इच्छा का प्रतिनिधित्व करती हुई 'एक इच्छा' पुष्पित-पल्लवित होती है, लेकिन सामाजिक प्रदूषण में डूबते-उतरते क्रम में उसकी वह 'एक इच्छा' भी एक वक्त के बाद दम तोड़ने के कगार पर पहुंच जाती है।

> ''खैर जब इतना कट गया बाकी भी
> गुजर जाएगा/न अपना घर होगा न अपनी
> जमीन/फिर भी आसमान तो होगा कुछ न
> कुछ/फिर भी नदी होगी कभी भरी तो कभी
> सूखी/और यह भी कि कोई इच्छा थी कभी''

लोकतंत्र का जो तत्त्व 'तंत्र' भीतर की ओर धंस गया है, कवि उसे अलग करता है, उसका सरोकार सिर्फ लोक से है। इसी 'लोक' को अरुणजी अपनी कविताओं में ओढ़ते-बिछाते हैं। उनकी कविताओं के केंद्र में वह लड़का 'चांपा' है, जो सड़क पार करते हुए दुर्घटना का शिकार हो गया है। वे 'बुजुर्ग' है, जिन्हें उनके हाल पर छोड़ दिया गया है।

किसी चलताऊ परिपाटी से कोसों दूर रहकर लिखी जा रही इन कविताओं की बेजोड़ व्यंजना पाठकों के मन में अवशोषित हो उठती है। कवि उन सपनों की बात करता है, जो बाजार के परजीवी होते जा रहे हैं। उस दौर को साक्षी भाव से देखता है, जिसमें स्थिरता और संयम को कूप-मंडूकता का पर्याय माना जाता है।

प्रेम, कवि के यहां गहरे आत्मखनन की चपेट में हैं, जहां एक वक्त के बाद प्रेम में सनी रहने वाली शोखी गायब हो चुकी है और कवि प्रेम में आत्म-विवेचन के गंभीर दौर से गुजर रहा है।

> ''मेरी देह केंचुल उतार रही थी/मेरी
> आत्मा वल्कल/धार में पड़ा एक
> पत्थर जिस पर धूप थी ऊपर पानी
> अलग/वह ढलान लगातार ढलती
> यहां आ जाएगी तुम्हारे घर
> तक/सोचा ना था/वहां देवदार थे
> यहां उडहुल घना कत्थई/मैं फल में
> बंद वर्क्स''

प्रस्तुत संग्रह की कविताएं पिनपिनाहट से दूर और किसी बक से बचते हुए जीवन के हर उस हिस्से पर प्रहार करती चलती हैं, जहां-जहां पर लिजलिजे किस्म का घोंचूपन घर किए हुए है। इन्सानी जीवन को एक पंसारी की दुकान बनने से बचाने की कोशिश करती हैं ये कविताएं।

कवि एक मननशील व्यक्ति की तरह स्वयं को घटनाओं से घिरा हुआ पाता है। उसके सामने 'बाजार' है, 'रोटी' है, 'भूख' है, 'वृद्ध' है, 'मात्रभूमि' है। अबोलों को बोल देने की कोशिश है, बाहर की ओर बहती बहिर्मुखता को जीवन के साथ जोड़कर देखने के सार्थक प्रयासों के क्रम में रची जाती हैं ऐसी प्रयोगधर्मी कविताएं।

आजकल साहित्य में जिस तरह शिल्प और बिंबों में प्रयोग हो रहे हैं, उसके पांव तले नाजुक अनुभूतियां दम तोड़ती दिख रही हैं। यहां भी सामाजिकता का ऊंट बाजार की तरफ करवट लेकर बैठने लगा है। बाजार की चकाचौंध से ठीक उलट ये कविताएं सीधे जन-सराकारों की बात करती हैं।

अरुण कमल सपाट बयानी के कवि नहीं हैं। उनके सरोकार किसी नारे की शक्ल में नहीं आते, बल्कि गहरी संवेदनाओं के रूप में अपना चेहरा बाहर निकालते हैं। अपनी कविता 'रेल की बात' में वे कहते हैं :

> ''सामने वाली सीट पर बैठे आदमी
> ने जोर की सांस ली और बोला—
> / हमको तो बस साफ पानी चाहिए
> भाई जी''

तो यह सच फिर जाहिर होता है कि इसी बिंदु पर आकर हमारे विकास की रूपरेखा में गड़बड़ियां दिखाई देने लगती हैं।

इसी धरती को बचाने के लिए कवि अपना स्वर तेज करता है। उसका आह्वान है :

> ''बहुत हुआ अवसाद और गोधूलि

का गायन/कंगोड़ों की एक-एक टांग गिनने का आख्यान/अब कंठ खोल गाने का दिन है/अब धूप में देह तपाने का दिन है/उठो बांधो हाथ में हाथ/और घेर लो धरती''

कवि सरकार के दरवाजे पर दस्तक देते हैं, मध्यमवर्ग की आरामपरस्ती को निशाना बनाते हैं। दुनिया के ढोल-तमाशे के बाद गरीब की वही फटेहाल जिंदगी का खाका खींचते हुए सच को भी एक बार फिर आईना दिखाते हैं।

''शाम हो रही थी भीड़ थी जगमग बाज़ार था/चुपचाप चला जा रहा था एकटक ताकता आगे/धरना से वापिस घर, एक बाप एक बेटा''

1970 की एक स्थिर तस्वीर में कैद दृश्य को कविता में उतारा है अरुण कमल ने, जिसमें सुदीप बनर्जी, शमशेर, त्रिलोचन, भीष्म साहनी, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि वरिष्ठ लेखकों से पाठकों का हूबहू साक्षात्कार होता दिखाई पड़ता है।

अरुण कमल का यह ताजा संग्रह युवा कवियों के लिए एक पाठ्य पुस्तक का काम करता है, जिसके हर सफे पर कवि की रचनात्मक सर्जन शक्ति का सही इस्तेमाल साफ दिखता है। अरुण कमल की कविताएं फौरी तौर पर नज़र से गुजारने वाली कविताएं नहीं हैं, ये सभी कविताएं अपने व्यापक नज़रिए के जरिए समाज में आमूलचूल परिवर्तन की मांग भी करती हैं।

मैं हूं शंख महाशंख/अरुण कमल/राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 150

मकान नं. 1008, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, सेक्टर-154, हिसार (हरियाणा)-110016 मो. 9891250940

मनुष्यता को बचाए रखने का प्रयास करती कविता

हितेश कुमार सिंह

हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में हरिओम एक जाना-पहचाना नाम है। हरिओम एक सचेत कवि हैं, जिनकी मुकम्मल काव्य-दृष्टि है। आज विचारों से बंजर होते जा रहे हिंदी-साहित्य को वह अपनी मौलिक सोच से उपजाऊ बनाते हैं, साथ-ही-साथ उसको समृद्ध करते हैं।

'कपास के अगले मौसम में' हरिओम का पहला काव्य-संग्रह है। इस संग्रह में उनके विद्यार्थी जीवन से लेकर अब तक की कविताएं संकलित हैं। इस संग्रह की कविताएं विविधिता से पूर्ण हैं। इसमें जहां एक ओर 'धरती और तुम', 'लल्ली घोड़ी और बचपन की याद में', 'एक गांव का मर्सिया' जैसी प्रकृति से संबद्ध कविताएं हैं, वहीं दूसरा और 'दुःख का रिश्ता', 'दुःख', 'दुःख तुम्हारा' इत्यादि संवेदनात्मक कविताओं को स्थान दिया गया है।

इस संग्रह की पहली कविता है—'बचे हुए लोग'। इस कविता में कवि का कहना है—

अब तो बचे हैं/बस कुछ ही लोग/जो करते हैं जिंदगी से प्रेम/सहेजते हैं दूसरों के लिए शब्द।

हरिओम एक सकारात्मक कवि हैं। वह समकालीन, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिदृश्य में बढ़ती नैतिक गिरावट के प्रति सचेत हैं। यही कारण है कि वह अपनी कविता में भीड़ की बात न करके, उन बचे हुए लोगों की बात करते हैं, जिनकी दृष्टि सकारात्मक है। जो समाज के लिए कुछ करना चाहते हैं और समाज को समर्पित है। यह बचे हुए कुछ लोग ही हमारी भारतीय संस्कृति, परंपरा, सच्चरित्रता इत्यादि को बचाकर रखे हैं, हमारी नैतिकता, हमारे आदर्श को अक्षुण्ण बनाए रखा है।

हरिओम की कविता यथार्थवादी कविता है। संपूर्ण विश्व की पीड़ित, वंचित और शोषित जनता के सारे संचित दुःख, ताप, पश्चाताप का आत्मसातीकरण और अपने समय तथा सत्ता की निर्मम कार्यवाहियों की सच्चाइयों को कवि साफ शब्दों में बिना लागलपेट वर्णित करता है। भूमंडलीकरण अपने खूनी पंजों से जिस तरह हमारे आचार-विचार, संस्कृति, परंपरा आदि को शनैः-शनैः निगलता जा रहा है, उससे कवि चिंतित दिखाई देता है—

टूटकर बरसते भयावह बादलों से/जिसमें सुरक्षित नहीं है/कोई जगह-पर्वत या चट्टान/जहां पहुंच बच सकूं मैं/अपनी उम्मीदों के साथ (उम्मीद का एक सिरा)

विकास का दूसरा पहलू विनाश होता है। हमने जितना पाया है, शायद उससे कहीं अधिक खोया है। हेलिकॉप्टर, मोबाइल, इंटरनेट,

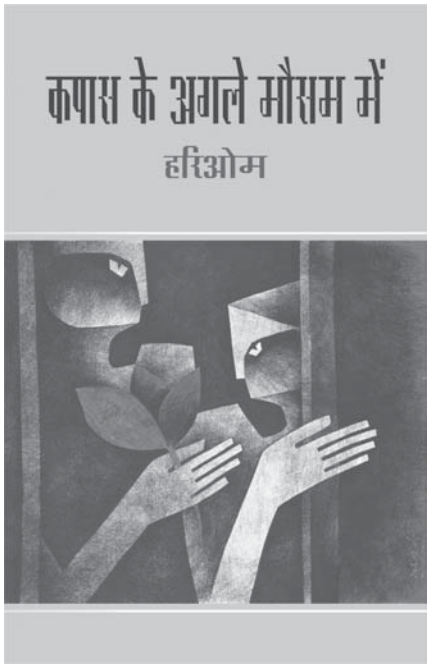

आईपैड इत्यादि आधुनिक वस्तुओं द्वारा हम विकास की गगनचुंबी को छू रहे हैं, किंतु दुःखद यह है कि नैतिकता के क्षेत्र में रसातल में पहुंच चुके हैं। अपनी कविता 'लल्ली घोड़ी और बचपन की याद में' के माध्यम से कवि हमें आगाह करता है—

कि तुम जहां होती थी/वहां भी क्यूं नहीं हो/तुम्हारी अनुपस्थिति के रहस्य से बेचैन/हम लौटना चाहते हैं/अपने साझा इतिहास के उस छोर तक।

इस संग्रह की एक कविता है—'नीला जादू'। इसमें कवि भूमंडलीकरण एवं बाजाररूपी नीला जादू से समाज को सतर्क करता है। वह कहता है कि अब वह दिन दूर नहीं, जब समूची पृथ्वी भूमंडलीकरण के प्रकोप से नहीं बचेगी—

कि ये पहाड़ और झरने/ये जंगल और शहर/कि ये समूची की समूची दुनिया/चंद दिनों में/हो जाएगी नीली।

कविता-संग्रह की कविताओं को ध्यान से पढ़ते हुए यह प्रतीत होता है कि हरिओम की कविताएं समाज के आम आदमी की कविता हैं। आम आदमी को केंद्र में रखकर लिखा गया यह संग्रह उसकी असह्य पीड़ा को व्यक्त करता है। आम आदमी के चेहरे पर मुस्कान न आ पाने का मुख्य कारण है—भ्रष्ट राजनेता। हमारी जमीन, जंगल और नदियों को समाप्त कर अपनी जेब और अटैची को भरने वाले ये भ्रष्ट राजनेता हमें विकास का झूठा सपना दिखा-दिखाकर इससे हमारा वोट लेते हैं और हम पर ही शासन करते हैं। इस संग्रह की कविताएं ऐसे चक्रव्यूह को तोड़ने का भरपूर प्रयास करती हैं—

वह सुनता नहीं/सिर्फ बोलता है/हम जब होते हैं तबाह/वह गाता है/विकास के बौने गीत/वह हमारे सपनों व सवालों पर/करता है राज।

अभी हाल में कवि गंगाप्रसाद विमल का एक काव्य-संग्रह आया है—'खबरें और अन्य कविताएं'। जनप्रतिनिधि के ऊपर इसमें भी ठीक ऐसी ही एक कविता है—

वे हमारे भाग्य का/बंटवारा करते हैं/निर्धारण भी/अब हमें बारिश पर/निर्भर नहीं रहना है न बीज पर/न खाद पर हम कह सकेंगे कुछ/अब हमें कर्ज पर/जीना है भरे तनाव में।

हरिओम एक आशावादी कवि हैं। उन्हें आशा है कि झूठ-फरेब, चार सौ बीसी, हत्या-लूट, भ्रष्टाचार इत्यादि के बाद एक सुनहरा काल अवश्य आएगा—

मैं फिर लौटूंगा/जलूंगा, खिलूंगा/तुम्हारी बुझी हुई बंजर दुनिया में/मैं बीता हुआ समय नहीं हूं।

इस समाज में कभी किसी को कमजोर नहीं समझना चाहिए। चाहे वह स्त्री हो, दलित हो या फिर गरीब, क्योंकि कोई भी प्राणी एक सीमा तक ही अपने ऊपर किए गए अत्याचार को बर्दाश्त कर सकता है। यह सीमा जब टूटती है, तो निश्चित ही कहर बरपता है, क्रांति होती है और फिर उस क्रांति से कोई भी अपराधी बच नहीं सकता—

पर हमारी उखड़ी हुई सांसों/और बदरंग चेहरों से/तुम समझ सकते हो/कि बचने के लिए/हम कर सकते हैं कुछ भी/लड़ सकते हैं/हारी हुई लड़ाइयां भी।

हरिओम की कविता किसी एक वाद से बंधी हुई नहीं है। वह सभी विचारधाराओं से अच्छी चीजें ग्रहण करते हैं। इसका संकेत वह अपनी कविता के माध्यम से देते हैं—

मैं चाहता हूं/खोल दूं सब खिड़कियां ताजा हवा की (एक भीगी रात के उस पार)

एक स्थान पर कहीं मैंने पढ़ा था कि ईश्वर का सर्वोत्तम सृजन मनुष्य है, किंतु यह सृजन आज सबसे निकृष्ट श्रेणी में पहुंच गया। इतना गिरा हुआ कार्य तो पशु भी नहीं करते अर्थात् हम पशुओं से भी बदतर हो गए हैं—

मैं दिखता हूं आदमी की तरह/और तुम्हें पता रहा होगा/कि आदमी हमारी दुनिया का/सबसे खतरनाक जानवर है।

कुछ ऐसा ही अज्ञेयजी ने भी अपनी एक कविता में कहा है। जहां सर्प को मनुष्य से बहतर दर्शाया गया है—

सांप, तुम सभ्य तो हुए नहीं,/नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया,/फिर कैसे सीखा डसना/विष कहां पाया।

कपास के अगले मौसम में (काव्य-संग्रह)/डॉ हरिओम/शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ₹ 200

1144, भरद्वाजपुरम् (नजदीक ई डब्ल्यू एस), अल्लापुर, इलाहाबाद, उ.प्र. मो. 9452790210

निवेदन

'पुस्तक-वार्ता' के समीक्षकों से मेरा निवेदन है कि पुस्तक की समीक्षा भेजते समय ठीक से पुस्तक का ब्यौरा दें यथा—पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का पूरा पता, पुस्तक का मूल्य। मुझे प्राप्त समीक्षाओं को संपादित करने में कठिनाई होती है क्योंकि समीक्षक सावधानी नहीं बरतते। यदि भविष्य में समीक्षक मेरे इस विश्वास की रक्षा करेंगे तो मुझे सचमुच सहूलियत होगी।

—संपादक

बीतते हुए समय का अहसास

मूलचंद गौतम

प्रयाग शुक्ल कभी किसी खास धारा, वाद, गुट और दल के कवि नहीं रहे। उनकी आवाजाही सभी विधाओं और विधाकारों में रही है। कला और फिल्मों पर लिखने के अनुशासन ने उन्हें अति कथन और तरह-तरह के अतिवादों से बचाया है—न केवल उनके कवि को बल्कि व्यक्ति और व्यक्तित्व को भी। इसीलिए विवादास्पद और विवादग्रस्त होने में उनकी न रुचि है, न समय। इसलिए जो उनके व्यक्ति को नहीं जानते, वे उनकी कविताओं के मर्म को भी नहीं जान सकते। 'चींटा' और 'बर्र' जैसी मामूली-सी लगती अद्वितीय कविताएं असहृदयों के लिए प्रयोग भर हो सकती हैं।

कविता प्रयाग शुक्ल के लिए एक अनवरत संपन्न होती यात्रा के वृतांत, दृश्यों, दिन-पल-क्षण में घटित यथार्थ की धूप-छांह है। इधर 'जनसत्ता' में लिखे उनके यात्रावृत्तों और उनकी कविता में अद्‌भुत साम्य है। जैसे कविता उन वृतांतों का ही मूर्त-अमूर्त भराव है। जैसे एक ही कवि की यात्रा के अनुभवों के कुछ बिंब...जी के जुड़ाने के चार पल, पुरानी चीजों से लगाव, दृश्यों की स्मृति—'सहसा ही/जल से उछाल भर/उछल आई मछली-सी' (पृ. 30)। आप ढूंढ़ते रहिए अज्ञेय की मछली? कन्या कुमारी के तीन चित्रों में—'जल धूप का अद्‌भुत रूप और बनते-मिटते पानी के शिल्प वहां कहां हैं? दृश्य में बहती जीवन की कठिन मधुर वातास और हरसिंगार के फूलों के लाल तलुवे देखना हर एक के वश का नहीं है?...'कुछ क्षण जिसके साथ हो लेने से/जीवन लौट आता है/दुगना-तिगुना होकर' (पृ. 31) समय से बंधकर भी उसका अतिक्रमण करता अनुभव है। कवि शब्द, रूप और अर्थ के नएपन और बीतते समय के बदलाव के प्रति सचेत है। वह उस बीतते को भी रीतते नहीं देख सकता। व्यर्थताबोध के बजाय बदलाव से मैत्री और सामंजस्य का संतुलन ही यात्री का पाथेय है, जिसके सहारे वह गिरने, लड़खड़ाने और झटका खाने के बजाय लंबी यात्रा निर्विघ्न संपन्न कर सकता है।

प्रयाग शुक्ल की कविताएं हड़बड़ी की उपज और समकालीन कविता की राजनीतिक नारेबाजी और उछल-कूद से एकदम अप्रभावित हैं। इसलिए उनका मुहावरा और मिजाज इत्मीनान से भरा है—हर अनुभव से संवादरत—यहां तक कि अपने आपसे भी संवाद। यह संवाद खुलेआम सुनयना से है जो आंखों के भेद से जानती है कि जीवन यह बीत रहा। न कहते हुए भी कहने का यह सलीका ही

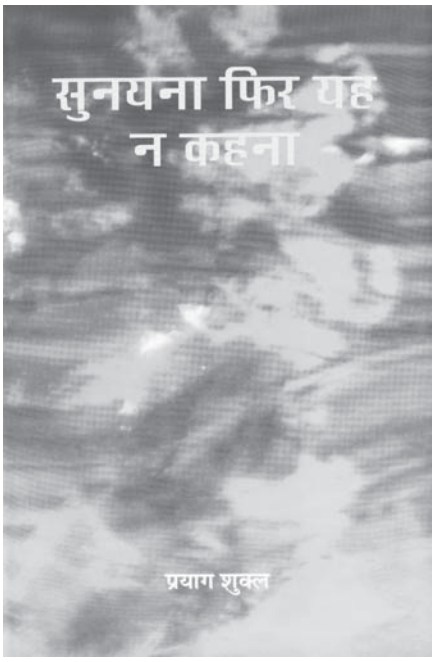

भ्रमों और वास्तवों की पहचान कराता है—कविता में। प्रयाग शुक्ल शमशेर की परंपरा में बिंबों के कवि हैं। इसीलिए उनकी कविता में कथा प्रायः नहीं है और जगत-व्यथा से भी वह उतनी ही दूर है। जीवन की इस यात्रा में बचपन में बार-बार बांधा गया जूते का फीता है तो, आम्र मंजरियां, कोयल, धूप, जल, सांझ, सुबह की लाली, नहर का किनारा, तितलियां, मेह, वृक्ष, फूल, धूल, हवा, झील के साथ प्रेम की एक कोमल हथेली, ब्रह्मपुत्र, कन्याकुमारी सब एक साथ हैं—तरतीब से साथ और अलग। यही कविता से प्रयाग शुक्ल का काम्य है। इसीलिए वे हर पल सृजनरत हैं, संवादरत हैं, अपने मन-मिजाज से—दिनों की धारा के बीच, दिनों की कारा के बीच नहीं। यह बौद्धिक स्वातंत्र्य उन्हें ऐसा दार्शनिक बोध देता है कि वे कवि के रूप में खुद को बीतता और रीतता महसूस करने के बजाय भरा-पूरा होने का अहसास पाते हैं।

हमें मालूम है कि एक बार बरेली आने पर प्रयाग जी को होटल की खिड़की से किसी वृक्ष-वनस्पति, चिड़िया के दर्शन नहीं हुए तो उन्होंने उसे बदलवा दिया। यही है कवि-हृदय की सच्ची पहचान। जिसका अहसास मुझे और सुधीर विद्यार्थी को पहले से था। इनके बिना कविता तो दूर वे जीवन भी संभव नहीं मानते।

सुनयना फिर यह न कहना/प्रयाग शुक्ल/विजया बुक्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ₹ 150

शक्तिनगर, चंदौसी, मुरादाबाद-202412 (उ.प्र.)
मो. 09412322067

शहर के सबसे मासूम हिस्से को छूना चाहता हूं

अरुण होता

हिंदी के वरिष्ठ कवि दिविक रमेश का आठवां कविता-संग्रह है 'बांचो लिखी इबारत'। इस संग्रह की कविताएं तमाम पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं परंतु कवि के अन्य काव्य-संग्रहों में नहीं। इस संग्रह की कविताओं पर विचार करने के पहले यहां उल्लेख करना अनुचित न होगा कि दिल्ली विश्वविद्यालय के विद्यार्थी जीवन से कविता सृजन करने वाले रमेश शर्मा ने अपनी पहचान दिविक रमेश के नाम से बनाई। दिविक अर्थात् दिल्ली विश्वविद्यालय के कवि। पिछले तीन दशकों से भी अधिक अवधि से कवि-कर्म में रत दिविक की कविताओं ने हिंदी के तमाम मूर्धन्य कवियों का ध्यान आकर्षित किया है। दिविक के प्रथम कविता-संग्रह 'रास्ते के बीच' (1977) का चयन शमशेर बहादुर सिंह ने किया था। बाद के संग्रहों का चयन त्रिलोचन, केदारनाथ सिंह, विष्णु खरे और अशोक वाजपेयी ने किया। अशोक वाजपेयी द्वारा चयनित कविता-संग्रह 'गेहूं घर आया' को पाठकों ने खूब सराहा। आलोचना के शिखर पुरुष नामवर सिंह के अलावा निर्मला जैन, अरविंदाक्षन, गोपेश्वर सिंह, विनय विश्वास, हेमंत कुकरेती आदि ने भी दिविक की कविताओं की प्रशंसा की है, लेख लिखे हैं।

बहरहाल, चर्चा 'बांचो लिखी इबारत' की जाए। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें वैविध्य भरपूर है। यह वैविध्य विषय से संबंधित है तो रूप, आकार-प्रकार से भी। मात्र नौ शब्दों की कविता 'चुंबन' है तो 'वह खींचता रिक्शा कलकत्ते में', 'जानवरों के खिलाफ' जैसी लंबी कविताएं भी संकलित हुई हैं। गांव, कस्बा, महानगर के चित्र इस संग्रह में अंकित हुए हैं तो बाजार, समय और सांप्रदायिकता की विभीषिकाओं का भी चित्रण हुआ है। कहना न होगा कि राजनीति की चालाकियां और जनतंत्र का मखौल उड़ाने वाली कविता मिलती है। हृदय के कोमलतम भाव को संजोने का आग्रह करने वाली कविता भी उपलब्ध है। दिविक रमेश की कविताओं में भूमंडलीकरण के परिदृश्य का चित्रांकन मौजूद है। उनकी कविताओं की दूसरी बड़ी खूबी है पठनीयता और संवादधर्मिता। पाठक कविता पढ़ता ही नहीं उससे जुड़ता चला जाता है। तीसरा वैशिष्ट्य है गाहे-ब-गाहे लोक-जीवन की झांकी दिखाई पड़ती है। इस कवि को न तो जनवादी नारेबाजी से लगाव है और न ही रूपवाद से प्रेम। हताश, उदास, निराश माहौल में भी जिजीविषा को स्थापित करना चाहती हैं दिविक रमेश की कविताएं। इनके कवि-कर्म की एक और भी खूबी पाठकों को प्रभावित करती है। यह है शब्दों की मितव्ययिता। कम-से-कम शब्दों में कवि अपने समय और समाज की सच्चाइयों को अभिव्यक्त करता है। फलस्वरूप, उसकी कविताओं में संकेंद्रित संवेदना बनी रहती है।

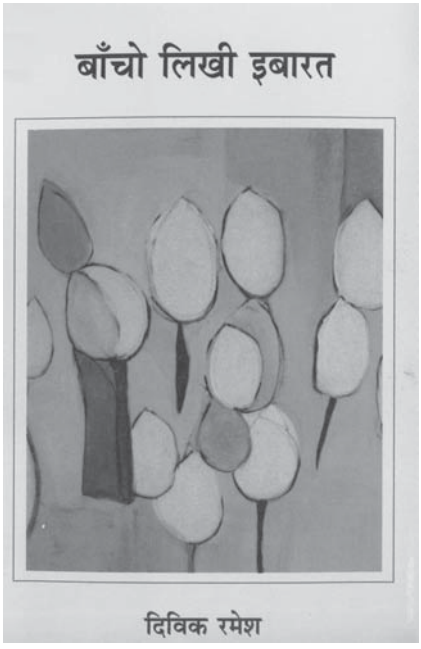

दिविक रमेश

समीक्ष्य संग्रह की पहली कविता 'सहधर्मी से संवाद' में मानव प्रवृत्ति के जिक्र के बहाने समय की विडंबना को अंकित किया गया है। छल, कपट, परनिंदा आदि दुष्प्रवृत्तियां जमाने में तेजी के साथ बढ़ रही हैं। इसलिए कवि दुःखी है। उसका संवाद है—"मेरे मित्र काश! तुमने देखा होता/एक साथ फूटते, फिर लहलहाते/अनेक-अनेक बीजों को/एक-दूसरे को चूमते/स्वीकारते, एक-दूसरे का अस्तित्व।" (पृ. 12)

यहां एक-दूसरे को 'स्पेस' ही नहीं, सह-अस्तित्व तथा प्रेममय वातावरण की ओर भी कवि का संकेत है।

शहरी जीवन से मानवीय गुण लुप्तप्राय हो रहे हैं। जीवन यंत्रवत् हो रहा है। कवि की बड़ी चिंता है कि मासूमियत कहीं शब्दकोश में ही न बंध जाए। इसके बिना सृजन कैसे संभव होगा? कवि इसे भलीभांति महसूस करता है। इसलिए कवि की अभीप्सा है—"मैं अपने इस शहर के/सबसे मासूम हिस्से को छूना चाहता हूं/उसी हिस्से से/खोदकर माटी/मैं कविता के चाक पर रखूंगा।" (पृ. 14)

एक बेहतरीन कविता है 'मेरा हथियार'। इस कविता में कवि ने फटेहाल

बच्चों, बेकार नौजवानों, उदास चेहरों, लुप्त होने की कगार पर खड़ी बोलियों, रुके पड़े रास्तों, निर्वाक् लोगों को अपनाकर, हथियार मानकर चलना चाहा है। इन्हीं से कवि अपने रचना-संसार का खाद-पानी पाना चाहता है। संघर्षशील होना चाहता है।

दिविक रमेश ने अपने समय को अनदेखा नहीं किया है। फैलती जा रही अपसंस्कृति पर उंगली रखकर कवि चुप्पी नहीं साध लेता। वह इस स्थिति के जिम्मेदार पहलुओं को भी ढूंढ़ निकालता है—''लड़की नंगी हो रही थी/लड़की नाच रही थी/एक अदृश्य डोरी/शायद मेरी उंगली से भी आ उलझी थी।'' (पृ. 20)

विभाजन की कीमत पर देश आजाद हुआ। आजादी के पहले, आजादी के बाद और समकाल की बड़ी त्रासदी है सांप्रदायिकता। सांप्रदायिकता को उभारने वाली रचना को चाहे जो भी नाम दें, लेकिन उसे कतई कविता नहीं कह सकते। कवि सांप्रदायिकता को भड़काने वाला काम नहीं करता। वह भाईचारे की बात करता है। सौमनस्य, धार्मिक सद्भाव और सौहार्द्र को बढ़ावा देता है। सांप्रदायिकता से उबारने की औषधि को ढूंढ़ने का प्रयास करता है। 'एक थे हनीफ दादा भी मेरे' की निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय हैं—''दादा ने बताया था/जब मैं हुआ/तो लड्डू उन्होंने नहीं, हनीफ दादा ने बांटे थे।'' (पृ. 22)

ऐसे हनीफ दादा को अपने दादा नहीं बचा सके थे—''छत्तीस गामों के पुरोहित होकर भी/नहीं बचा सके थे, ढहते चले गए थे ढूंह-से।'' (पृ. 23)

कवि के लिए प्रजातंत्र एक ऐसे पत्थर के समान है जिस पर सैकड़ों फनकार छेनियां चलाते जा रहे हैं और उसे चकनाचूर किए जा रहे हैं। वे अपने को सुहाने वाले रूप की खुदाई कर रहे हैं। अपने-अपने स्वार्थ को रूपायित करने के लिए प्रजातंत्र का मनचाहा अर्थ लगाते रहते हैं। मंत्री, नेता, कर्मचारी, तथाकथित जनसेवक आदि जनतंत्र के नाम पर लूट मचाए जा रहे हैं। कवि ने ऐसा चित्रण 'जनतंत्र' शीर्षक कविता में किया है। जनतंत्र का ऐसा बुरा हाल हो तो स्वाभाविक है—'कितना खौफनाक है माहौल'। देश में तबाही और अराजकता का बवंडर बह रहा है। कवि के शब्दों में—''खून के कतरे उड़ रहे हैं आकाश में/दर्दनाक आवाजों का यहां दम घुटता है।'' (पृ. 57)

सवाल यह कि इस दमघोंटू वातावरण से मुक्ति का उपाय क्या है? मुक्तिबोध की भी एक चिंता थी—''मेरे शहर के लोग कब शिक्षित और सुखी होंगे?'' आज के भूमंडलीकृत समाज में सबसे बड़ा संकट मनुष्यता के सामने खड़ा है। मनुष्य बचेगा तो सभ्यता बचेगी। संस्कृति फलेगी-फूलेगी। लेकिन मनुष्य हो तब न! कवि उस मनुष्य की तलाश में है। रघुवीर सहाय ने लिखा है—''लोग लोग लोग/मार तमाम लोग।'' लोगों की लंबी कतार और बड़ी भारी भीड़ भी। मनुष्य की खोज में निकला कवि थका-मांदा बैठ जाता है। आत्मान्वेषण करते हुए कहता है—''दरअसल/मैं आदमी को/खुद में/ढूंढ़ रहा था।'' हां, इस कवि का मनुष्य हाड़-मांस से निर्मित है। गुण-दोष से समन्वित। यह न देवता है और न दानव। दिविक रमेश की कविताएं मनुष्य और मनुष्यता का अन्वेषण करती हैं। थकाऊ यात्रा के पश्चात् भी लेखक निराश नहीं है, हताश भी नहीं जो समकालीन कविता का एक यशस्वी नाम दिविक जी ने लिखा है—''मैं थक गया हूं तुम्हें ढूंढ़ते-ढूंढ़ते/कहां हो तुम/पर मैंने माना है/खुद को टटोलते-टटोलते जाना है/तुम हो तो जरूर।'' (पृ. 38)

इसलिए पेड़, हवा, मिट्टी, आकाश, पहाड़, आग, पानी संकल्प करते हैं आदमी को बचाने के लिए। आदमी बचेगा तो सब कुछ बचा रहेगा। कहीं उसे ग्रस्त न कर ले पाशविकता अथवा हिंस्रता—''हमें बचाना है आदमी को/खुद अपने माथे पर लोहा गाड़ने से,/दबोचने से गला/अपने सबसे मासूम हिस्से का।'' (पृ. 106)

कोलकाता के रास्ते पर नंगे पैर रिक्शा खींचने वाले बिहारी भाई के विलक्षण बिंब खड़े करने में दिविक रमेश को बड़ी सफलता मिली है। यूं यह कविता 'वह खींचता रिक्शा कलकत्ते में' कवि की प्रतिभा का परिचायक है। इस लंबी कविता में कवि अपने भावों को सकेंद्रित किए हुए है। इसमें काव्य-संवेदना का उभार है। सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का समावेश हुआ है। विद्रोह और व्यंग्य तो है ही। रिक्शे वाले के परिवार की दुःखद गाथा और आने वाले दिनों में उसके बेटे का भवितव्य दोनों मिलकर पाठकों के मन में विद्रोह और करुणा उत्पन्न करते हैं। ध्यान देने योग्य है कि कवि ने उस रिक्शे वाले की सामर्थ्य और सीमा दोनों को चित्रित किया है। इसलिए, वह मसीहा नहीं आम आदमी के रूप में जीता-जागता मनुष्य है। किंचित क्षोभ, व्यंग्य और संवेदना को समेटती पंक्तियों पर गौर करें—''खींच/सहनशीलता के देवता/मंडित हो-होकर/सुंदर विशेषणों से/ढोता रह/लद्दू आस्थाओं को''। (पृ. 99)

कवि की सामाजिक पक्षधरता नारेबाजी का रूप नहीं लेती। कवि की कविताई रूपवाद के मोह का शिकार नहीं बनती। दिविक रमेश की यह प्रगतिशीलता भी है और परंपरा में जीने की ललक भी।

कविता में अनायास आ गए लोक-भाषा या अन्य भाषा के शब्दों से इस कवि की कविताओं को खास रूप से पहचाना जा सकता है। यह कवि के लोक से जुड़ाव का भी परिचायक है। झरीट (खरोंच), ठाढ़ढी (खड़ी), बिचासते (जानते-समझते), चहणियां (श्मशान) आदि के प्रयोग से कवि अपने अंदर जीवित गांव या लोक को उघाड़ता है।

दिविक रमेश के इस संग्रह में पचास से अधिक कविताएं हैं। उन सभी का जिक्र करना न तो संभव है और न उचित है। लेकिन, 'जिजीविषा', 'काम करता हुआ आदमी', 'जैसे इमारत को वह बच्चा', 'जानवरों के खिलाफ' शीर्षक कविताएं अत्यंत प्रभावशाली हैं। संभवतः इसलिए निर्मला जैन ने दिविक रमेश की कविताओं के संबंध में लिखा है—''दिविक रमेश रचनाकार के रूप में एक ऐसी शख्सियत हैं; जिन्होंने आधुनिक रचनाकारों की अग्रिम पंक्ति में अपनी जगह बनाई है।''

बांचो लिखी इबारत/दिविक रमेश/प्रकाशन संस्थान, 4268बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 150

2-एफ, धर्मतल्ला रोड, कस्बा, कोलकाता-700042 (पश्चिम बंगाल) मो. 09434884339

पहाड़ की कविता और कविता के पहाड़

स्वप्निल श्रीवास्तव

राजा खुगशाल का यह तीसरा कविता-संग्रह है जो 'पहाड़ शीर्षक है पृथ्वी के' के नाम से सन् 2012 में प्रकाशित हुआ है, इसके पहले सन् 1983 में 'संवाद के सिलसिले में' एवं दूसरा संग्रह 'सदी के शेष वर्ष' 1991 में प्रकाशित हुआ है, यानी यह संग्रह बीस वर्षों के अंतराल के बाद हमारे सामने है, लेकिन राजा खुगशाल के कवि जीवन में ये वर्ष खामोशी के वर्ष नहीं रहे हैं, वे धीमी गति से लिखने वाले कवि हैं, लेकिन लिखते जरूर रहे हैं, अनुवाद करना उनका पैशन है। कवियों के जीवन में अंतराल का भी एक अर्थ होता है। यहां पर तुलना करना मेरा अभीष्ट नहीं है, लेकिन बीस वर्ष से ज्यादा समय के बाद सन् 1980 के आसपास नागार्जुन, शमशेर, त्रिलोचन एवं केदारनाथ सिंह के संग्रह प्रकाशित हुए और उन्होंने हिंदी कविता के पर्यावरण को बदलने की कोशिश की। आज के युवतर कवियों को देखकर आश्चर्य होता है कि उनके पास तीस-चालीस कविताएं क्या हुईं, वे संकलन के प्रकाशन की योजना बनाने लगते हैं और काव्य-उन्नति के स्वप्न देखने लगते हैं। इस अधैर्य को क्या कहा जाए, लेकिन समय ही ऐसा है कि कोई विपरीत टिप्पणी करना भी एक तरह से जोखिम उठाना है। हमारे समय में अगर संवाद की संभावना खत्म हुई तो उसके लिए हमारी असहिष्णुता जिम्मेदार है।

राजा खुगशाल की कविताओं का आस्वाद अलग है, वे हमें विचलित नहीं करतीं। हमारी संवेदना को छूती हैं। हमसे बतकही करती हैं। राजा की कविताएं कम ही चर्चा में रही हैं। चर्चा के लिए जिस तरह से अनुष्ठान किए जाते हैं, वह राजा खुगशाल जैसे कवि का स्वभाव नहीं है। यहां पर भारत भारद्वाज की टिप्पणी को पढ़ना दिलचस्प होगा, उन्होंने लिखा है—लगभग 20 वर्षों के अंतराल के बाद, उनके तीसरे कविता-संग्रह 'पहाड़ शीर्षक है पृथ्वी के' पढ़कर हैरानी हुई। अपनी कविता के प्रति निस्पृहता और उदासीनता के बीच उन्होंने अपने भीतर के कवि को जिंदा रखा, उनके सामने एक बड़ी चुनौती थी, लेकिन उनके कवि ने अपने समय और समाज को ओझल नहीं किया।

दरअसल एक कवि की जिजीविषा और प्रतिबद्धता उसकी शक्ति होती है, जिसके जरिए वह अपने काव्य अनुभव का विस्तार करता है। इस संग्रह में पहाड़ के जीवन के अनगिनत अनुभव हैं, उसे उस जीवन और समाज की चिंता है, जिसमें जहर घोलने के उद्यम हो रहे हैं, कवि के पास पहाड़ के जीवन की बहुत सारी स्मृतियां हैं, लेकिन वह उसे लेकर भावुक नहीं है, वहां वह उस जीवन के यथार्थ से टकराने की कोशिश करता है। बहुत सारे रचनाकार पहाड़ से मैदान में उतरते हैं और पहाड़ के दुख भूल जाते हैं और अपनी जड़ें समतल मैदान में फैलाने लगते हैं, लेकिन राजा खुगशाल अपने पीछे छूटने वाले दुख को काव्य विषय बनाते हैं। उनकी यह शिद्दत कविताओं में पढ़ी जा सकती है। सुदूर गांव से महानगर में पहुंचने वाले लोग, आपाधापी में अपनी संवेदना को बचा नहीं पाते हैं। शहर उसे निगल जाता है, उन्हें खुद पता नहीं चल पाता कि वे कितने पतित और कलुषित हो गए हैं, लेकिन कविता मनुष्य को बचाती है और एक कवि को और ज्यादा बचाती है। बशर्ते वह खलनायक बन जाने की महत्वाकांक्षा से अपने आपको बचाए रखे। यह नायकों नहीं, खलनायकों का संसार है। कोई नायक अथवा मनुष्य बनने का जोखिम नहीं उठाता है।

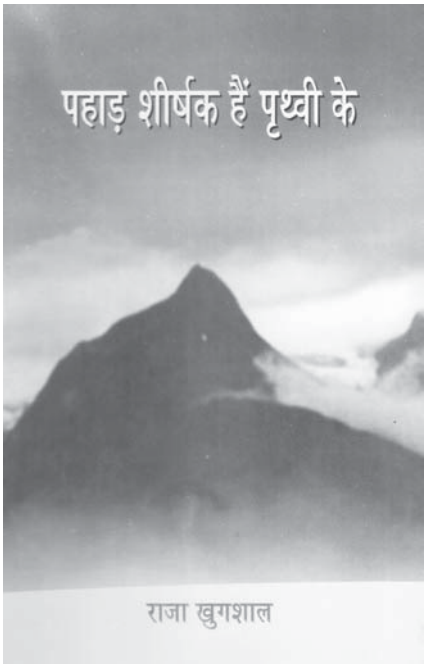

इस संग्रह में 78 कविताएं संकलित हैं। ये लंबी नहीं, मितभाषी कविताएं हैं। इसलिए इसमें बड़बोलापन नहीं है। ये कविताएं हमें हल्का-सा आघात देती हैं और हमारे मर्म तक पहुंचती हैं। ये उत्पादित नहीं लिखी गई कविताएं हैं, और सहज संप्रेषित होती हैं। इस संग्रह की पहली कविता 'दुनिया का चेहरा' की पंक्तियां देखें—

बेहद आसान है अब चेहरा बदलना
चेहरा ओढ़ना
चेहरा बेचना और खरीदना
अब एक चेहरे पर कई चेहरे हैं
××
जब दुनिया के अनेक चेहरे हों
और चेहरे का हर भाव
बाजार में बिकता हो।

यह कविता हमारे समय के त्वरित परिवर्तन का जायजा लेती है। यह दुनिया चेहराहीन लोगों से भरी हुई है। बाजारीकरण ने हमारी जिंदगी का चेहरा बदल दिया है।

कवि का बचपन पहाड़ों में बीता है, जो पहाड़ों में रह चुका है वह पहाड़ से बच नहीं पाता। पहाड़ एक प्रतीक की तरह उसके जीवन में आते हैं, उनकी स्मृति और बिंब भीतर की दुनिया में बसे रहते हैं। सैलानियों के लिए पहाड़ भले ही लुभावने हों, लेकिन जो पहाड़ों के बीच रहते हैं, उन्हें दुख के पहाड़ का सामना करना पड़ता है। राजा खुगशाल ने दयाशंकर, पहाड़ पर घर, पहाड़ शीर्षक है पृथ्वी के, पहाड़ की सुबह, पहाड़ की रात, और मैं पहाड़ हूं जैसी कविताएं लिखीं। ये सारी कविताएं पहाड़ पर लिखी गई हैं। इन कविताओं में पहाड़ के मोहक चित्र नहीं जीवन और समाज की कठिनाइयों का वृतांत है। कुछ कवितांश देखें—

वह बारिश में दुखों के गीत गाती है
चिलकती धूप में शिखरों तक पहुंचते
हैं उसके हाथ
रात के अंधेरे में वह तारे बुनती है
अपने बच्चों के लिए
(पहाड़ की सुबह)

मैं पहाड़ हूं
मैं टूट रहा हूं
दरक रहा हूं
दिन-रात
खिसक रही हैं मेरी चट्टानें
धंस रही है मेरी मिट्टी
जल रहे हैं मेरे जंगल

सूख रही हैं मेरी नदियां (मैं पहाड़ हूं)

'पहाड़ के वे घर' शीर्षक कविता का यह अंश भी देखें—

कहां गए उन घरों के लोग
जो गर्मियों में हर साल आते थे गांव
टाफियां लाते थे बच्चों के लिए
मिठाइयां बांटते थे घर-घर
जो तब भी आते थे
जब सड़क नहीं थी गांव तक
बिजली नहीं थी गांव में

इन कविताओं में कवि की चिंताएं अभिव्यक्त हुई हैं। पहाड़ों से भयानक विस्थापन हो रहा है। टिहरी शहर को डुबो दिया जाता है। परियोजनाओं के लिए गांव के गांव उजाड़ दिए जाते हैं। उन्हें खदेड़ दिया जाता है, उनसे उनके पहाड़ छीन लिए जाते हैं। यह आधुनिक सभ्यता और विकास का भयानक नर्क है। बहुराष्ट्रीय संस्थाओं की आमद हो रही है। उनके साथ अपसंस्कृति का जहर फैल रहा है। लोक-जीवन को बचाए रखने के लिए पहाड़ को बचाना जरूरी है, नदियों के उद्गम स्थल की रक्षा भी जरूरी है। यानी प्रकारांतर से हमें अपनी सांस्कृतिक जड़ों को बचाना है। इसी क्रम में राजा खुगशाल की कविता 'हमारे पूर्वज' का पाठ किया जा सकता है। राजा की कविताओं को पढ़ते हुए हमारा ध्यान इस संग्रह की कविता पहाड़ पर भोटिये, बंजारे की ओर सहर्ष जाता है। भोटिये इस संग्रह की अनुपम कविता है। यह पहाड़ का श्रमिक वर्ग है जो बकरियों, भेड़ों के झुंड के साथ जंगलों और पर्वतों में घूमता है। यह घुमक्कड़ जाति है जिसके कंठ में लोकगीत सुरक्षित हैं। इस कविता का उदाहरण पढ़ें :

वे बहुत करीब से महसूस करते हैं
पहाड़ के हर संकट को
घर से दूर निरभ्र आकाश के नीचे वे
चांदनी में जलते अलाव के आसपास
नाचते-गाते हैं
सोते-जागते वे नजर रखते हैं
बकरियों के झुंड पर
वे कुत्ते के गुर्राने से भांप लेते हैं
अंधेरे के संभावित खतरे

इधर की कविताओं से प्रकृति लगातार गायब हो रही है, उसके साथ हमारी स्मृति का संसार भी हमसे दूर होता जा रहा है। इस संग्रह की तेंदुए, बया, पुल, नदी, बारिश के दिनों में, मां, समुंद्र, पचासवें वर्ष में, दुख, जैसी कविताएं राजा के रचनात्मक क्षमता का परिचय देती हैं। ये कविता के नए विषय नहीं हैं, लेकिन अगर वे हमारी कविता में आते हैं तो यह सुखद सूचना है।

महानगर की आपाधापी में एक कवि कैसे अपने शब्द और स्मृति को बचाता है, राजा की कविता इसका उदाहरण प्रस्तुत करती है। कविता के सुधी पाठक इस संग्रह की कविताओं को जरूर पसंद करेंगे।

पहाड़ शीर्षक है पृथ्वी के/राजा खुगशाल/आधारशिला प्रकाशन, बड़ी मुखानी, हल्द्वानी, नैनीताल-263139 (उत्तराखंड)/मूल्य : ₹ 200

510, अवधपुरी कालोनी, अमानीगंज, फैजाबाद-224001 मो. 09415332326

खड़ी बोली हिंदी के पहले कवि नजीर अकबराबादी के काव्य का महत्त्व

कांति कुमार जैन

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वैसे तो नजीर अकबराबादी को अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में स्थान दिया है पर हिंदी के अधिकांश समीक्षक और इतिहासकार नजीर को हिंदी काव्य की मुख्य धारा का कवि मानने में संकोच करते रहे हैं। उर्दू के साहित्यकार भी नजीर को 'तुकबंद' ही मानते आए हैं, उन्होंने नजीर को मीर, गालिब या सौदा जैसे शायरों के समान उर्दू का प्रतिनिधि शायर मानने से इंकार किया। इसका कारण यही है कि नजीर उस भाषा के कवि हैं जो जनता द्वारा खड़ी बोली क्षेत्र में बोली जाती है। वह तो पिछले कुछ दशकों से बोली जाने वाली खड़ी बोली को हिंदी की बोलियों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिए जाने की प्रवृत्ति बढ़ी है और नजीर को उनका प्राप्य मिलने लगा है।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अतिथि प्रवक्ता डॉ. शमशाद अली द्वारा लिखित 'नजीर अकबराबादी के काव्य का परिचयात्मक विमर्श' ऐसी ही महत्ता को रेखांकित करने वाली पुस्तक है। इस पुस्तक की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए लेखक के गुरु और अ.मु. विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के प्रोफेसर डॉ. अब्दुल अलीम ने लिखा है, ''नजीर और उनके साहित्य पर किसी एक ग्रंथ में सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होने की समस्या को दृष्टि में रखते हुए मैंने अपने शिष्य डॉ. शमशाद अली को इस दिशा में कार्य करने का परामर्श दिया।...फलस्वरूप प्रस्तुत सामग्री पुस्तक रूप में उपलब्ध है।''

'नजीर अकबराबादी के काव्य का परिचयात्मक विमर्श' 80 पृष्ठों की एक छोटी-सी पुस्तक है। इसमें केवल तीन अध्याय हैं। निश्चय ही यह छात्रोपयोगी है। इस पुस्तक को पढ़ने से छात्रों में 'हिंदुस्तानी' के पहले कवि नजीर अकबराबादी के व्यक्तित्व और साहित्य की जानकारी तो मिलेगी ही, नजीर का काव्य और उसकी विवेचना करने वाली विभिन्न सामग्री को पढ़ने की जिज्ञासा भी होगी। इस प्रकार की छात्रोपयोगी पुस्तकों के प्रणयन की हिंदी में पुरानी परंपरा है। मुझे याद है कि मेरे गुरु और हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. रामरतन भटनागर ने सन् '50 और '60 के दशक में हिंदी साहित्य के प्राचीन, मध्य और आधुनिक काल के लगभग सौ कवियों पर 'एक अध्ययन' शृंखला में छात्रोपयोगी पुस्तकें लिखी थीं। ये अध्ययन बी.ए. और एम.ए. के छात्रों के बीच अत्यंत लोकप्रिय थे। हम लोग उन्हें पढ़कर परीक्षा की वैतरणी आसानी से पार कर लेते थे। शोध छात्रों को भी ये अध्ययन प्रामाणिक सूचनाएं उपलब्ध कराते थे। इन पुस्तकों में यहां-वहां विशृंखलित सामग्री एक स्थान पर एकत्र कर दी जाती थी। डॉ. शमशाद अली ने नजीर के संदर्भ में ऐसा ही श्लाघनीय प्रयास किया है। छात्रों के लिए प्रस्तुत इस पुस्तक को लेकर वे न तो संकुचित हैं, न ही क्षमाशील। इस पुस्तक की भूमिका में लेखक स्वीकार करते हैं कि इस पुस्तक का विशेष आकर्षण नजीर और उनके साहित्य के संबंध में मुक्त रूप से यथार्थ प्रस्तुत करना है। इस विषय में नजीर संबंधी अंतःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनों का आश्रय लिया गया है। छात्रों के लिए लिखित इस प्रकार की पुस्तकों को हिंदी के अनेक विद्वान बहुत श्रेष्ठ नहीं मानते, किंतु तरणताल में कूदने के पहले तैराक बनने के आकांक्षी को रबर के ट्यूब के सहारे तैरना सीखना पड़ता है। 'एक अध्ययन' अथवा 'परिचयात्मक विमर्श' जैसी पुस्तकें शोध और समीक्षा के तरणताल में कूदने वाले नौसिखुआ तैराकों को रबर ट्यूब जैसा सहारा सिद्ध होंगी।

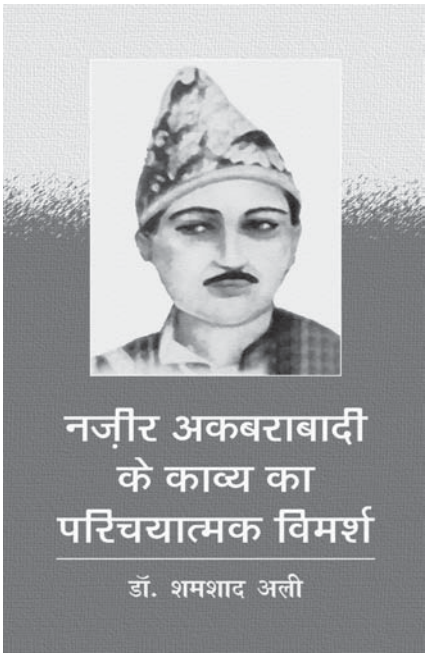

प्रस्तुत पुस्तक तीन अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में नजीर अकबराबादी के युगीन परिवेश, व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है। यह अध्याय नजीर के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं परिवेश के संबंध में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है। जन्म और मृत्यु विषयक विभिन्न मतों का परीक्षण करने के उपरांत लेखक का निष्कर्ष है कि नजीर का जन्म सन् 1735 और मृत्यु 1830 में हुई थी। कहीं-कहीं लेखक का अभिमत स्पष्ट नहीं हो पाया है जैसे कि उसका यह कथन कि 'साहित्यिक दृष्टि से नजीर रीतिकालीन द्वितीय शताब्दी के कवि हैं।' 'रीतिकाल की द्वितीय शताब्दी' से संभवतः लेखक का आशय रीतिकाल के दूसरे चरण से है। इस पुस्तक में नजीर विषयक कतिपय अत्यंत महत्त्वपूर्ण जानकारियों का समावेश किया गया है, जैसे कि नजीर की फारसी रचनाओं का दीवान संबंधी सूचना।

नजीर ने गद्य भी लिखा था—यह जानकारी भी इस पुस्तक से मिलती है। इस अध्याय की अधिकांश सामग्री प्रो. नजीर मुहम्मद द्वारा संकलित एवं संपादित 'नजीर ग्रंथावली' नामक पुस्तक से ली गई है। प्रो. नजीर मुहम्मद ने अपने सहनाम कवि के जीवन और साहित्य के संबंध में ग्रंथावली में अत्यंत प्रामाणिक जानकारियां दी हैं। नजीर अकबराबादी के काव्य के अध्येताओं में प्रो. नजीर मुहम्मद का वही स्थान है जो बिहारी के अध्येताओं मे विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का माना जाता है, या जायसी के अध्येताओं में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का। एक प्रकार से डॉ. नजीर मुहम्मद नजीर अकबराबादी के डॉ. रामविलास शर्मा हैं। नजीर अकबराबादी विषयक किसी भी अध्येता के लिए डॉ. नजीर मुहम्मद की पुस्तक को अनदेखा करना संभव नहीं है।

द्वितीय अध्याय का विषय है 'नजीर के काव्य का स्वरूप एवं विविध संदर्भ'। इस अध्याय में नजीर के समय के सामाजिक परिदृश्य की विवेचना हुई है। नजीर की संवेदना समाज के उस वर्ग के प्रति है जो रोज कुआं खोदता है और पानी पीता है। हाथों से श्रम करने वाले अन्य आदमी को वे अपने निकट पाते हैं। प्रदर्शनप्रिय, अभिजात और चोंचलेबाजी में लिप्त मनुष्य की हंसी उड़ाने का नजीर कोई अवसर नहीं छोड़ते। हिंदी में आदमी पर पहली कविता नजीर ने ही लिखी। निर्धनता का जैसा रोमांचक किंतु संवेदनासंपन्न चित्रण नजीर ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। रोटी पर कविता लिखने वालों में नजीर अन्यतम हैं। किसी कवि की कविता की पंक्तियां यदि मुहावरों की तरह उद्धृत की जाने लगें तो वह कालजयी बन जाता है। 'भूखे भजन न होय गुपाला', 'चना जोर गरम' जैसी पंक्तियां नजीर ने ही लिखी थीं, जो आज भी जन-सामान्य के बीच प्रचलित हैं। नजीर ने आम आदमी के साथ जितनी तड़पना का अनुभव किया, किसी और ने नहीं। समाज के सांस्कृतिक परिदृश्य का नजीर का काव्य जैसे बायस्कोप ही है। होली के तो नजीर दीवाने हैं। डॉ. शमशाद अली ने इस पुस्तक में एक बड़े पते की बात लिखी है, ''नजीर ने बिगड़ती अर्थव्यवस्था के जो सामाजिक चित्र अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किए वे इस बात के प्रमाण हैं कि ''...छोटा बड़ा कोई भी व्यवसायी इस आर्थिक उथल-पुथल से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा था।'' वर्तमान दौर की महंगाई और आर्थिक अव्यवस्था का नजीर को जैसे पूर्वाभास हो गया था। नजीर सच्चे भारतीय कवि हैं। भारत की ऋतुओं और तीज-त्यौहारों में जैसे वे रचे-बसे हों। बरसात नजीर की प्रिय ऋतु है। 'क्या-क्या चर्चा है यारो बरसात की बहारें' के सादृश्य पर भवानीप्रसाद मिश्र ने 'बरसात आ गई रे, बरसात आ गई रे' कविता लिखी। दोनों कविताओं में अद्‌भुत दृश्य और शब्द साम्य है।

पुस्तक के तृतीय अध्याय में लेखक ने नजीर के काव्य के वैचारिक एवं भावात्मक पक्षों पर विचार किया है। इस अध्याय में कवि के भाषा विषयक व्यवहार पर लेखक के महत्त्वपूर्ण विचार मिलते हैं। अच्छा होता यदि लेखक नजीर की काव्यभाषा विषयक दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए हिंदी के उन साहित्यकारों का भी हवाला देता जो नजीर की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले कहे जा सकते हैं। यदि हमें प्रेमचंद, नागार्जुन, हरिशंकर परसाई या शरद जोशी की भाषा के डी.एन.ए. का पता लगाना हो तो निश्चय ही उसके गुणसूत्र हमें नजीर अकबराबादी की भाषा में मिलेंगे। नजीर अपनी भाषा न किसी शब्दकोश से उठाते हैं, न ही किसी लुगद से। परसाई जी के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे दिन में ही बस से यात्रा करते थे ताकि अपने सहयात्रियों का बोलना सुन सकें। प्रेमचंद जी का तो महादेवी जी की सेविका भगतिन से घंटों बात करना प्रसिद्ध ही है। नजीर भी अपनी भाषा ताजमहल के पिछवाड़े के उस बाजार से लेते हैं जहां ठेले वाले, मस्क वाले, खोंचे वाले अपने धंधे के लिए जोर-जोर से हांक लगा रहे हैं। नजीर जनता की भाषा में, जनता के दैनंदिन जीवन पर जनता के लिए लिखने वाले कवि हैं। जहां जनता है, नजीर भी वहीं हैं। वे अरबी-फारसी के भी जानकार हैं और संस्कृत के भी। आगरा की बोली तो उनकी रग-रग में घुली हुई है। शब्दों का चुनाव करने के लिए उन्हें सोचना नहीं पड़ता। जैसा विषय, वैसी भाषा। नजीर के संबंध में सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने बोली और लिखी जाने वाली भाषा का भेद मिटाने का बहुत बड़ा काम किया। भवानीप्रसाद मिश्र जब यह कहते हैं कि 'जिस तरह तू बोलता है, उस तरह तू लिख' और 'मन की बात निछक औ नंगी, बिनगहने बिनकपड़े कहना' तो वे एक तरह से अपने काव्य पुरखे को ही दुहरा रहे थे। जनता जब कोई बात करती है तो वह भाषा की शुद्धता-अशुद्धता की बात नहीं सोचती। अपने मन की बात सामने वाले तक ठीक-ठीक पहुंचाना ही उसका लक्ष्य होता है। नजीर जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह कनकौए लूटने वाले लौंडों की भाषा है, अखाड़ों में जोर करने वालों की भाषा है। ऐसी भाषा काव्य को कला मानने वालों को रास नहीं आती। इसीलिए नजीर को एक शताब्दी तक हिंदी और उर्दू के भी कला-रसिकों की उपेक्षा का शिकार होना पड़ा। मुझे याद है जब मैंने भोपाल की उर्दू की प्रसिद्ध अध्यापक और समीक्षक डॉ. शफीका फहरिस्त को नजीर अकबराबादी पर शोध-कार्य के लिए प्रेरित किया तो उन्हें और मुझे भी बड़ी आलोचना का शिकार होना पड़ा था, पर जनतांत्रिक मूल्यों के इस युग में नजीर हमारे सच्चे प्रतिनिधि हैं।

प्रस्तुत पुस्तक निश्चय ही हिंदी के जिज्ञासु पाठकों के लिए लिखी गई है। इस पुस्तक में यदि यह उल्लेख भी होता कि हिंदी के इतिहासकारों और समीक्षकों ने नजीर के संबंध में क्या-क्या कहा है तो पुस्तक और मूल्यवान हो सकती थी। मुझे याद है कि राजेंद्र यादव ने अपने हमशहर नजीर अकबराबादी पर बड़ा मूल्यवान और मौलिक लेख लिखा था। अन्य विचारकों के भी मत दिए जा सकते थे। इसी प्रकार हिंदी में अनेक ऐसे कवि हुए हैं जो भाव और भाषा के स्तर पर स्वयं को नजीर से जोड़ना गौरव का कारण समझते हैं। हिंदी के शोधकर्ताओं ने नजीर पर जो शोध-कार्य किया है उसका अता-पता देना भी उपयोगी होता। यदि हम नजीर अकबराबादी को खड़ी बोली हिंदी का पहला कवि मान लें तो आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में सौ वर्ष और जुड़ जाएंगे। ब्रजभाषा के गढ़ आगरा में रहते हुए भी ब्रजभाषा को छोड़कर काव्य के लिए खड़ी बोली को अपनाने के लिए हमें नजीर के दुस्साहस और दूरदर्शिता का कायल होना पड़ेगा।

नजीर अकबराबादी के काव्य का परिचयात्मक विमर्श/डॉ. शमशाद अली/वाङ्मय बुक्स, 205, ओहद रेजिडेंसी, मिल्लत कालोनी, दोदपुर रोड, अलीगढ़-202022/मूल्य : ₹ 150

5, विद्यापुरम्, मकरोनिया कैंप, सागर-470004 (म. प्र.) दूरभाष 07582-262354

लोक-संबद्ध कवि की काव्य-यात्रा

पूनम सिन्हा

समीक्ष्य पुस्तक 'केदारनाथ अग्रवाल : कविता का लोक आलोक' कवि केदार के जन्मशताब्दी वर्ष की अनुगूंज के साथ हमारे बीच आयी है। इस पुस्तक के संपादक हैं—संतोष भदौरिया एवं नरेंद्र पुंडरीक। बुंदेलखंड एवं केदार के काव्य से संतोष भदौरिया के गहरे सरोकार रहे हैं। प्रसिद्ध कवि नरेंद्र पुंडरीक केदार शोधपीठ न्यास, बांदा के सचिव हैं। केदार एवं उनकी रचनाओं से हिंदी पाठकों की आत्मीयता बढ़ाने में ये निरंतर सक्रिय रहे हैं।

इस पुस्तक में कवि केदार पर तीस आलेख संकलित हैं। प्रथम लेख 'कर्मण्य जीवन और क्रियापदों का संगीत' प्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक मुरली मनोहर प्रसाद सिंह का है। उन्होंने कवि केदार की काव्य-रचना में योग देने वाली पृष्ठभूमि एवं परिवेश का वर्णन प्रखर आलोचकीय मेधा के साथ किया है।

केदार अपने काव्य में 'क्रियापदों के प्रयोग एवं सामाजिक शब्द योजना' के द्वारा विलक्षण लय-भंगिमाएं प्रस्तुत करते हैं : नर हैं तो अजानबाहु उन्नत ललाट/रागानुराग रंजित शरीर हैं, अधरपान, कुचग्रहण/और आलिंगन में आसक्त लीन हैं।'

वरिष्ठ आलोचक अजय तिवारी ने भी 'केदारनाथ अग्रवाल : बजी रूप रस की शहनाई' शीर्षक लेख में केदार के काव्य पर उनके जीवन-संघर्ष एवं परिवेशगत प्रभाव के अंतर्सूत्र की पड़ताल करते हुए कहा है, 'सामाजिक एकता, क्रांतिकारी देशभक्ति और नारी प्रेम के संस्कार इसी परिवेश की देन हैं। रिश्तों को निभाना केदार खूब जानते थे। अजय तिवारी कहते हैं, 'मित्रों में रामविलास शर्मा के साथ, संबंधों में पत्नी के साथ, राजनीति में मार्क्सवाद के साथ, प्रकाशनों में परिमल के साथ, जिससे भी एक बार नाता जुड़ा वह जीवनव्यापी हो गया।'

अजय तिवारी केदार को तुलसी एवं निराला की परंपरा में मानते हैं, साथ ही यह भी कहते हैं, 'लेकिन उनकी रचनाप्रकृति को देखकर यह नहीं लगता कि वे पर्याप्त सोच-विचार करके अपनी कला को ढालते और निखारते होंगे। देर तक एक भाव दशा में रहना उनके वश का नहीं है।' तिवारी जी के इस कथन से सहमति नहीं बनती है। केदार के काव्य की सादगी एवं सहज संप्रेषणीयता से भले ही किसी को यह भ्रम हो, किंतु उनके कला प्रयोग अविचारित नहीं हैं। वे कथ्य के पक जाने का इंतजार करते थे।

'केदारनाथ अग्रवाल : क्रांति में खिड़कियां' शीर्षक लेख में शंभुनाथ कहते हैं, 'उनकी कविता में जान तब आई, जब वह प्रगतिशील आंदोलन के संपर्क में आए।' शंभुनाथ का कथन सही है, किंतु केदार की स्त्री-प्रेम एवं प्रकृति-प्रेम की कविताएं उनकी प्रगतिशील कविताओं का विपर्यय नहीं हैं। केदार का कहना है 'प्रगतिशीलता केवल राजनैतिक हठधर्मिता नहीं है। राजनैतिक हठधर्मिता का परिणाम रूस में देख रहे हैं आप।' केदार के प्रिय रूसी कवि मायकोवस्की

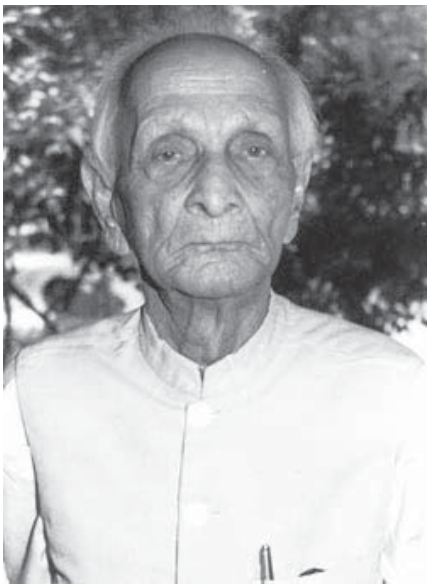

कहते हैं, 'मार्क्सवादी तरीका, विधि, जिसका इस्तेमाल आसान है यदि किसी के पास अपने विचार हों, कहने को कुछ अपनी बात हो।' (खुद अपने बारे में—मायकोवस्की, आलोचना, अप्रैल-जून '84, पृ. 9) लोक-संबद्धता के कारण केदार के पास कभी न समाप्त होने वाली बातें थीं; इसीलिए उनका लेखन कभी चुका नहीं। केदार की कविता जहां क्रांति का सिंहनाद करती है, वहां वह स्थानीयता के साथ सार्वभौमिक है : 'डंका बजा गांव के भीतर/सब चमार हो गए इकट्ठा/एक उठा बोला दहाड़ कर : हम पचास हैं,/मगर हाथ सौ फौलादी हैं'।

केदार के काव्य वैशिष्ट्य की पहचान देर से हुई। केदार के काव्य-संग्रह 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' पर लिखते हुए शमशेर ने केदार के प्रति आलोचकों की उपेक्षा पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया प्रकट की। समीक्ष्य पुस्तक में शमशेर का वही लेख 'छायावाद से अलगाव' शीर्षक से संकलित है। लेख की शुरुआत में ही शमशेर कहते हैं, ''कई साल हो गए केदार के प्रतिनिधि संकलन 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' को निकले और सुनता हूं कि अभी तक उसकी कोई रिव्यू नहीं निकली, न कोई चर्चा हुई।'' इस लेख में उन्होंने अज्ञेय के इस आरोप का खंडन किया है कि केदार रूपवादी हैं।

केदार की प्रगतिशील चेतना की धार तीव्र करने में डॉ. रामविलास शर्मा का उल्लेखनीय योगदान है, जैसे मायकोवस्की को कवि बनाने में उनके मित्र डेविड वर्लयुक का योगदान है। मायकोवस्की कहते हैं, 'कमाल का दोस्त है। मेरा असल गुरु, मुझको कवि बनाकर ही दम लिया। मुझको फ्रेंच और जर्मन कवियों की कविताएं सुनाईं। किताबें दीं। लगातार बात करता गया।' (आलोचना, अप्रैल-जून '84, पृ. 10) अपने मित्र डॉ. रामविलास शर्मा के विषय में केदार कहते हैं, 'मैं अपने व्यक्तित्व और कृतित्व का पूरा श्रेय उन्हें देता हूं और

इनका हृदय से आभारी हूं।' (आलोचना, जनवरी-मार्च '82, पृ. 133) केदार के प्रति अंतरंगता ने उनके काव्य के प्रति डॉ. शर्मा की निर्वैयक्तिता को बाधित नहीं किया है।

अपने लेख 'श्रम का सूरज' में डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं, ' 'वह तोड़ती पत्थर' की परंपरा केदार और नागार्जुन की रचनाओं में विकसित हुई है।' डॉ. शर्मा केदार को भारत की अपराजेय किसान चेतना का कवि मानते हैं और 'किसान के जीवंत प्राकृतिक परिवेश' का भी। जाहिर है केदार के काव्य में देशज ठाट पूरी दृश्यमयता के साथ है।

डॉ. नामवर सिंह के लेख का शीर्षक है 'देशज ठाट का कवि केदार'। डॉ. नामवर सिंह कहते हैं, '...केदार मनुष्य और प्रकृति जहां संयुक्त रूप से मिलते हैं, उसके कवि हैं।' केदार के लिए केन नदी आत्मीया है : 'आज नदी बिल्कुल उदास थी/सोई थी अपने पानी में/उसके दर्पण पर बादल का/वस्त्र पड़ा था/मैंने उसको नहीं जगाया,/दबे पांव घर वापस आया।'

कवि केदार की कविताओं को पढ़ते हुए नामवर सिंह एवं दूधनाथ सिंह—दोनों को तुलसीदास याद आते हैं। केदार के काव्य में प्रवेश के लिए दूधनाथ सिंह किसी विश्लेषक-आलोचक या भाष्यकार की जरूरत महसूस नहीं करते हैं। अपने लेख 'कविता से रोमांस' में दूधनाथ सिंह कहते हैं, 'केदारनाथ अग्रवाल एक ऐसे कवि हैं जो समय और इतिहास की गति का पीछा करने और समझने में कभी नहीं चूकते।' केदार की कविता 'एक भूल' में देश-विभाजन की त्रासदी का यथार्थ कथन है : 'भूल यह ऐसी हुई है/जो अनेकों पीढ़ियों तक दुख हमें देती रहेगी/हम कराहा ही करेंगे।' दूधनाथ सिंह कहते हैं, 'वह कवि ओट में खड़ा आज भी हमसे मुखातिब है।'

कुछ लोग आज भी कवि केदार को अपने से मुखातिब नहीं देख रहे हैं। अपने लेख 'कर्म के कृतित्व की सूर्याभिमुखी अभिव्यक्ति' में रविभूषण कहते हैं, 'अब केदारनाथ अग्रवाल की जन्मशती के अवसर पर भी अशोक वाजपेयी इनकी कहीं चर्चा नहीं कर रहे हैं।' केदार की यह उपेक्षा राजेश जोशी, लीलाधर मंडलोई आदि के द्वारा भी लक्षित है। अशोक वाजपेयी के प्रति केदार की धारणा का उल्लेख यहां संदर्भानुकूल है। अशोक वाजपेयी के 'कविता का गल्प' शीर्षक व्याख्यान के संदर्भ में 1991 में एक साक्षात्कार में केदार कहते हैं : 'कविता गल्प नहीं है यार।...अपने ढंग से विदेशी साहित्य पढ़ रखा है। स्वाभाविक है मानसिकता वैसी बनेगी ही। जन-जीवन से जुड़ना, अपने को मिटा करके दूसरे के व्यक्तित्व को अपने में बनाना यह बड़ा कठिन काम है।' (साहित्य अमृत, फरवरी 2011, पृ. 111)

रविभूषण ने कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दे उठाए हैं। मसलन, डॉ. रामविलास शर्मा के सान्निध्य का केदार जी पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका स्वतंत्र विश्लेषण अपेक्षित है तथा किसानी चेतना के कवि केदार के जन्मशती वर्ष में अब तक दो लाख किसानों की आत्महत्या को याद किया जाना चाहिए।

अपने लेख 'केदारनाथ अग्रवाल की काव्य- चेतना' में खगेन्द्र ठाकुर केदार की किसान चेतना को 'सामान्य किसान चेतना' नहीं मानते हैं। यह सच है कि मार्क्सवाद, प्रगतिशील आंदोलन तथा डॉ. रामविलास शर्मा के सान्निध्य के प्रभाव से केदार में स्पष्ट अवधारणा के साथ क्रांतिभाव तीव्र होता है, किंतु केदार की मूल चेतना 'सामान्य किसान चेतना' है।

रविभूषण प्रश्न उठाते हैं कि 'मिट्टी से संबंध-सरोकार अब कितने कवियों में है?' खगेन्द्र ठाकुर की चिंता का विषय है कि 'मेहनतकशों का जीवन तो कविता से गायब हो गया है।' इतना ही नहीं, प्रकृति एवं प्राणी जगत के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से युक्त विश्वसनीय चित्र भी आज की कविताओं में दुर्लभ हैं। प्रगतिशील आलोचक चंद्रबली सिंह के लेख 'रोमानी कवि केदार' में केदार के काव्य संकलन 'युग की गंगा' के आधार पर उनके प्रकृति प्रेम का विश्लेषण है। कवि कहता है, 'सुन पड़ता है/वनस्थली का हृदय चीरता/उठता गिरता,/सारस का स्वर/टिरटों टिरटों/मन होता है, जाऊं मैं/पर फैलाए सारस के संग/जहां जुगल जोड़ी रहती है। हरे खेत में'। यहां एक महत्त्वपूर्ण, किंतु अल्पचर्चित प्रगतिशील कवि रामइकबाल सिंह राकेश (जिनके काव्य ने चंद्रबली सिंह का ध्यान आकृष्ट किया था) की काव्य पंक्तियां सहज ही याद आती हैं, 'मादा को प्रसन्न करने की कला दिखाता,/नर बत्तख दोनों पैरों से जल उछालता/टिटहरियां वह आगे-आगे दौड़ी जातीं,/जोर-जोर से 'डिड ही डू इट' शोर मचाती।'

यह आकस्मिक नहीं कि केदार पर विचार करते हुए आलोचक कई-कई कवियों को एक साथ याद करते हैं। चाहे कर्णसिंह चौहान हों, प्रभाकर माचवे हों या विष्णुचंद्र शर्मा आदि हों। नंदकिशोर नवल भी 'हरी घास का बल्लम' शीर्षक लेख में केदार की राजनीतिक कविताओं के संदर्भ में नागार्जुन को याद करते हैं, तो प्रेमपरक कविताओं को कालिदास की परंपरा से जोड़ते हैं। केदार में प्रेमप्रसंग को लेकर वही अकुंठ भाव है। उन्होंने अपना पूरा जीवन ही अकुंठ भाव से जिया, तभी तो कहते हैं, 'हम न रहेंगे/तब भी तो ये खेत रहेंगे,/इन खेतों पर घन घहराते शेष रहेंगे'। शिवकुमार मिश्र अपने लेख में कहते हैं 'मरना तो एक दिन सबको है, पर जीवन पर ऐसी आस्था भी तो किसी की हो।' मिश्र जी आगे कहते हैं, 'सबसे अहम बात यह है कि केदार अपने समूचे रचनाकाल में निरंतर 'ग्रो' करते रहे हैं, विशद और सघन होते गए हैं।' यद्यपि अपूर्वानंद का मानना है कि 'चालीस एवं पचास के दशक की उनकी कविताओं का उद्दाम वेग सातवें, आठवें और नौवें दशक की उनकी राजनीतिक एवं प्रेमपरक कविताओं में नहीं है।'

केदार की प्रेमपरक कविताओं के विषय में रेवतीरमण अपने लेख 'केदार की कविताओं में लोक का आलोक' में कहते हैं, 'उनमें शमशेर जैसी मसृणता एवं संश्लिष्टता नहीं है।' हालांकि स्वयं शमशेर ने एक निबंध में कहा है, 'इधर उसकी कविताएं प्रेम और प्रकृति से संबंधित अपने ढले हुए सौंदर्य में हजार शिल्पगत बारीकियों की शरमाती हैं। रेवतीरमण ने नाजिम हिकमत, नेरूदा और ह्विटमैन की कविताओं को संदर्भित करते हुए केदार की राजनीतिक कविताओं पर गंभीर विमर्श किया है। 'एक पुरुषार्थ है कविता' शीर्षक लेख में कवि एवं आलोचक विजय बहादुर सिंह ने कवि केदार से जुड़े अपने संस्मरणों का वर्णन किया है। वर्णन-शैली पर विजय बहादुर सिंह के कवि-रूप का प्रभाव है। वीरेन डंगवाल ने 'लोक से आलोक का रास्ता' शीर्षक लेख में केदार जी से अपनी पहली भेंट की चर्चा करते हुए उनके आस-पास के पर्यवेक्षण के साथ उन्हें याद किया है। उनकी कुछ बातों का खंडन करते हुए अशोक त्रिपाठी ने कहा है, 'वीरेंद्र जी का यह पर्यवेक्षण कतई सही नहीं है।' (आजकल, मई 2011, पृ. 111) बहरहाल, केदार जी की कविता के बारे में वीरेन डंगवाल का पर्यवेक्षण गौरतलब है।

'केदार के गीत : संवेदना और दृष्टि' शीर्षक लेख में केदार के गीतों पर विचार करते हुए रामनिहाल गुंजन उनमें व्याप्त लोकतत्त्व की परंपरा निराला में पाते हैं। गुंजन जी केदार के गीतों में व्यक्त उनके जनवादी तेवर को भी

स्पष्ट करते हैं। केदार कहते हैं, 'एक सहारा है/बस मुझको नेक कलम का।' नेपाली कहते हैं, 'मेरा धन है स्वाधीन कलम।' यहां 'नेक' और 'स्वाधीन' क्या समानार्थी नहीं हैं?

राजकुमार शर्मा ने 'केदार की वैचारिक दृष्टि और भाषा-संवेदना' शीर्षक लेख में केदार के काव्य के भाव एवं विचारों को स्पष्ट किया है। राजकुमार शर्मा कहते हैं, 'यथार्थ के मर्म को वे उसी के बीच सिरजती दृश्यमयी भाषा में पकड़ते हैं, शुद्ध बौद्धिक अवधारणाओं से निर्मित प्रतीकों की दूरी से नहीं।' 'धरती' कविता में तुक के आग्रह ने बात बेतुकी कर दी है— 'नहीं कृष्ण की/नहीं राम की/नहीं भीम, सहदेव नकुल की/नहीं पार्थ की/नहीं राव की, नहीं रंक की/नहीं तेग तलवार धर्म की/नहीं किसी की, नहीं किसी की/धरती है केवल किसान की।' यहां 'नहीं रंक की' पंक्ति को 'धरती है केवल किसान की' पंक्ति के आमने- सामने रखकर प्रगतिशील नजर से देखिए तो बेतुकापन साफ हो जाएगा' केदार जी इतने असावधान कवि नहीं हैं, और न उनकी प्रगतिशीलता सिर्फ सैद्धांतिक। वे अंदर से प्रगतिशील हैं। यहां बात अमीर-गरीब की नहीं, खेत से किसान के जुड़ाव एवं संबद्धता की है। लोहा गलाने वाले श्रमिक के हाथ में हल की मूठ थमा देना और हल चलाने वाले किसान को लोहा पिघलाने का काम देना कारगर नहीं होगा। पुस्तक के अंतिम आलेख 'रूप रंग की भाषा में बोलता जनकवि' में जीवन सिंह केदार के विषय में कहते हैं, 'वे अपने जनपद की जीवनानुभूतियों से कटे हुए रचनाकार नहीं हैं, वरन् उनकी जीवन-संबद्धता में वे वैश्विक मानवतावाद तक की सुदूर यात्रा करते हैं।'

एक-दो आलेख को छोड़कर लगभग सभी आलेख वस्तु-आधारित आलोचना के उदाहरण हैं, किंतु संदर्भानुसार शिल्प विवेचन अनिवार्य रूप से हुआ है। केदार एवं उनके काव्य को समग्रता में जानने-समझने की दृष्टि से समीक्ष्य पुस्तक अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

केदारनाथ अग्रवाल : कविता का लोक-आलोक/ संपादन : संतोष भदौरिया, नरेंद्र पुंडरीक/यश पब्लिकेशंस, 1/10753, गली नं. 3, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, नियर कीर्ति मंदिर, दिल्ली-110032, मूल्य : ₹ 795

104, लक्ष्मी नारायण नगर, रामकृष्ण सेवाश्रम, मुजफ्फरपुर (बिहार)-843116, मो. 09470444376

समीक्षा की तटस्थ और पारदर्शी आंख

रामशंकर द्विवेदी

'बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में' विद्याभूषण के समाज, संस्कृति, कविता, कला-संबंधी गंभीर आलेखों का संग्रह है। इन्होंने 'जिरह के बहाने' अपनी भूमिका में समकालीन आलोचना की एक बड़ी कमी की ओर संकेत करते हुए लिखा है, ''विशाल हिंदी पट्टी में साहित्य सृजन का जो केंद्रीय प्रवाह है, उसमें दूरस्थ अंचलों और दिशाओं की लेखकीय ऊर्जा भी विसर्जित होती है, किंतु उस विराट संगम में जानी-मानी नदियों की जलधाराएं तो मान-पहचान पा लेती हैं, मगर अनगिनत प्रपातों और अंतः सलिलाओं के अंशदान को लगभग नकार दिया जाता है।''

आगे उनका कहना है : ''एक अरसे से समीक्षा और आलोचना में गिरोहबंदी जारी है। वाद है, मतवाद है/विवाद है, लेकिन उनके बीच संवाद नहीं है। सामयिक लेखन में समीक्षा और आलोचना का रिमोट कंट्रोल साहित्य के राजनीतिक गलियारे में छिपा है।'' फिर उन्होंने तीखे प्रश्न उठाते हुए कहा है, ''क्यों अनेक रचनाकार बेहतर लिखकर भी चर्चाओं के हाशिए में भी नहीं दिखते जबकि कुछेक स्टार रचनाकारों का कचरा भी पूरे तामझाम के साथ नुमाइशी अंदाज में पेश किया जा रहा है?''

इस संग्रह में उनके 31 आलेख संकलित हैं। प्रारंभ के तीन आलेख 'संस्कृति-विमर्श' पर केंद्रित हैं। विद्याभूषण संस्कृति को एकांगी न मानकर सर्वसमावेशी मानते हैं। संस्कृति बहुलतावाद को पोषित करती है। वह किसी एक वर्ग की रचना नहीं है। उनका मानना है 'संस्कृति मनुष्य का सृजन है और मनुष्य संस्कृति निर्माता है।' वे अपनी सांस्कृतिक विरासत को महनीय मानते हुए भी आज की परिस्थिति में स्व-संपूर्ण नहीं मानते। वे आधुनिकता और पुरातनता दोनों में चरमांत स्थितियों से बचने के प्रति सचेत करते हैं, वे 'अपने महान इतिहास के प्रेरक प्रसंगों', 'हजारों वर्षों के जीवनानुभव', 'समृद्ध और वैविध्यपूर्ण सांस्कृतिक विरासत को' संग्रहालयों की वस्तु मान लेना नासमझी समझते हैं, फिर आज वर्तमान की हर समस्या का हल अतीत के दर्पण में खोजना भी उनकी दृष्टि में उतनी ही बड़ी नासमझी है। अपने दूसरे आलेख 'जद्दोजहद की माटी से बनती संस्कृति' में उन्होंने झारखंड अंचल की संस्कृति की विशेषताओं का उद्घाटन किया है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता तमाम आक्रमणों को झेलकर भी अपने देशज रूप को जीवंत बनाए रखना है। अपने सुचिंतित आलेख, 'भारतीय अस्मिता के यक्ष प्रश्न' में लेखक ने भारतीय अस्मिता की पहचान के प्रश्न को

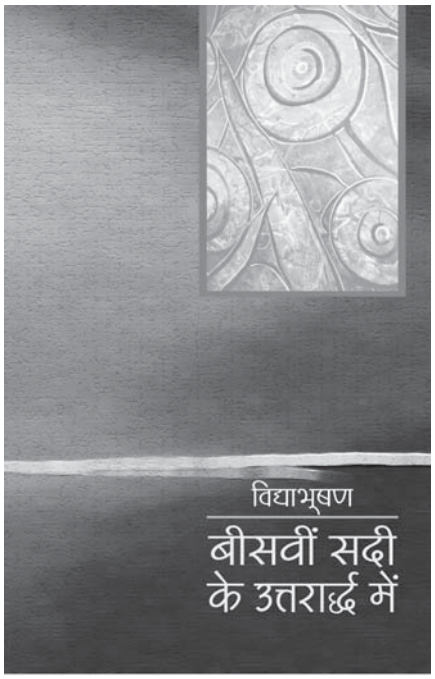

अत्यंत जटिल माना है। उसके अनुसार भारतीय अस्मिता या उसकी पहचान उन सभी चीजों और स्थितियों का संचयन है जिनके आधार पर हम एक स्वतंत्र इकाई जाने-माने जाते हैं। फिर इस अस्मिता पर मंडराने वाला सबसे बड़ा संकट उन्होंने बाजार और उपभोक्तावादी संस्कृति को माना है।

'जनवाद और सृजन की कशमकश' में विद्याभूषण ने साहित्य और कलाओं को स्वतंत्र इकाई मानते हुए भी उन्हें जनसापेक्ष माना है, लेकिन वे कला या साहित्य को सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजग मानते हुए भी इन्हें राजनीति या किसी विचारधारा के प्रचार का हथियार मानने से इंकार करते हैं। उन्होंने लिखा है : 'विचारधारा या आस्था कोई जादू की छड़ी नहीं है कि उसको सुंघा देने भर से मुर्दा चीजें जीवंत हो जाएं। यही कारण है कि कोई कृति विचारधारा से जुड़कर भी प्रभावी नहीं होती और अप्रतिबद्ध रचनाएं भी जनप्रियता के शिखर तक पहुंच जाती हैं।''

'साहित्य के आंगन में संकट बाजार' इस आलेख में लेखक यह मानने को तैयार नहीं है कि पुस्तकों की पाठकीयता का सूचकांक घट रहा है। उसने इन आरोपों को सिरे से खारिज कर दिया है कि कविता मर रही है। थियेटर को दर्शक नहीं हैं। कहानी खबर बन गई है। उपन्यास पढ़ने की फुर्सत कहां है। पत्रिकाएं बंद होती जा रही हैं। किताबें महंगी होने के कारण बिकती नहीं हैं। हिंदी का बाजार नहीं है। यानि साहित्य के पाठक नहीं रहे। लेकिन क्या सचमुच स्थिति ऐसी है?'

कुछ लोग साहित्य को एक सामाजिक उत्पाद मानते हैं। विद्याभूषण इससे कतई सहमत नहीं हैं। उन्होंने अपने आलेख 'सामाजिक परिवेश और साहित्य' में इस प्रश्न का जवाब देते हुए लिखा है : 'कला और साहित्य भी उत्पादन का ही एक रूप है, लेकिन यह उत्पादन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आर्थिक नियमों के अनुसार नहीं, वरन् सौंदर्य के नियमों के अनुसार होता है। अतः उसकी सार्थकता इसलिए है कि वह मानव चेतना का प्रतिज्ञान है। जो कलाकार और सहृदय दोनों के लिए आत्म साक्षात्कार का प्रभावी माध्यम है।''

'हिंदी सर्जना के अक्षांश व देशांतर' आलेख का मूल बिंदु यही है कि आंचलिक प्रतिभाओं का सृजन भी मुख्यधारा के सृजन के साथ विवेचित होना चाहिए।

हिंदी कथा-साहित्य को कई दृष्टियों से देखा-परखा गया है। एक दृष्टि है विभाजन के दंश पर लिखी गई कथा-कृतियों का विवेचन। 'विभाजन की त्रासदी की कथा-कृतियां' आलेख का विषय ऐसी ही कथा-कृतियों को विवेचन के परिसर में शामिल करना है। ये कथा-कृतियां हमारे इतिहास के उस काले पक्ष की बड़ी शिद्दत के साथ याद दिलाती हैं और ऐसी त्रासदी हमें पुनः न झेलनी पड़े इसके प्रति सचेत करती हैं।

कथा-कृतियों के विवेचन की एक दृष्टि आदिवासी और जन-जातियों के जीवन को लेकर लिखी जाने वाली औपन्यासिक रचनाएं हैं। इनके भी कई रंग हैं, कई मुद्राएं हैं। ये कथा-कृतियां आंचलिक कथा-कृतियों से इस बात में भिन्न हैं कि इनमें किसी अंचल को प्राथमिकता न देकर किसी जनजाति के जीवन को प्रमुखता दी गई है। लेखक ने इस दृष्टि से लिखी गई कृतियों को आठवें-नवें दशक तक समेटा है। सच बात यह है कि इन कृतियों का एक ही रंग नहीं है, इनमें भाषायी अस्मिता की दृष्टि से अपनी समस्याएं हैं तो लोकरंग की दृष्टि से उनके अपने तेवर हैं। उनका जो जातीय संगीत है वह अखिल भारतीयता के वृहद् आयाम में अपनी सिम्फनी गूंथता है। लेखक रांची में रहता है लेकिन उसने इस दृष्टि से महुआ माजी को शायद इसलिए नहीं लिया है कि इस लेखक के समय उनकी कोई कृति प्रकाशित नहीं हुई थी। लेखक ने अपने आलेख के अंत में इस तरह के अध्ययन की सीमारेखा खींचते हुए कहा है : समग्रता में देखना चाहें तो आदिवासी अस्मिता के विविध पहलुओं को किसी एक उपन्यास की कथा-परिधि में खोजना उस कृति के साथ अन्याय होगा। इतिहास, परंपरा, संस्कृति, संघर्ष, आधुनिकीकरण, नागरीकरण, औद्योगीकीकरण और विस्थापन के दंश और उसकी परिस्थितियों की टोह लेनी हो तो डूब, पार, धार, संघर्ष, समर शेष है, जहां खिले हैं रक्तपलाश और ग्लोबल गांव के देवता जैसे तमाम उपन्यासों के बीच से गुजरना होगा।

आदिवासी जीवन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से दो आलेख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन आलेखों को विद्याभूषण ने किंचित विस्तार और तुलनात्मक दृष्टि से लिखा है। दोनों आदिवासी या आंचलिक जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाने वाले रचनाकारों पर केंद्रित हैं। एक का शीर्षक है 'हिंदी कहानी में आदिवासी अंचल' और दूसरा है 'हिंदी कथा-परंपरा में झारखंडी कलम'। इन दोनों आलेखों में लेखक ने एक ऐसे कथाकार का उल्लेख किया है जिसने बाङ्ला कथाशिल्पी विभूतिभूषण वंधोपाध्याय के साथ काफी समय बिताया था पर इस कथाकार की सदा उपेक्षा की गई, उन्हें सिर्फ अंचल विशेष का ही अनुल्लेखनीय रचनाकार माना जाता रहा है। ये कहानीकार हैं योगेंद्रनाथ सिंह। आदिवासी कथा-साहित्य की दृष्टि से विद्याभूषण के ये दोनों आलेख महत्त्वपूर्ण और इस दृष्टि से कई शोधपूर्ण दिशाओं को उद्घाटित करते हैं।

इसके बाद 'उत्तरशती की हिंदी कविता', 'सातवें दशक के कविता-शिखर', 'विरासत में मिली कविता' ये तीनों आलेख कविता-केंद्रित हैं और कविता की अद्यतन धारा की कई दृष्टियों से जांच-पड़ताल करते हैं। विरासत में मिली कविता में विद्याभूषण ने कविता की जटिलता और उससे पाठकीय दूरी को केंद्र में रखकर दो-एक ऐसे सवाल उठाए हैं जिन पर विचार करना जरूरी है। उन्होंने तीन सवाल उठाए हैं : कविता का पाठक न धूमिल को भूल सकता है, न दुष्यंत को, और तब ठाकुर प्रसाद सिंह, रमेश रंजक, नईम, सत्यनारायण या उमाकांत मालवीय जैसे अनेक कवि-गीतकारों ने भला कौन-सा गुनाह किया था।

एक दूसरी अपेक्षा से लेखक का यह कथन हमारे ध्यान को केंद्रित करता है : अब कविता के आस्वाद के लिए पाठक का सिर्फ सहृदय और रसिक होना भर काफी नहीं है, अब उसे देशकाल इतिहास के जटिल रुझानों की कलात्मक त्वरा भी चाहिए।

उन्होंने कविता की अलोकप्रियता, उससे पाठकीय दूरी के बढ़ते सूचकांक के लिए कवि-कर्म की विफलता को भी प्रश्नांकित किया है। उनका कहना है, ''सारे सवाल सिर्फ पाठकों से ही क्यों? उसके लिए अप्रत्यक्ष तौर पर जिम्मेदार विफल कविकर्म को भी सवालों में क्यों नहीं जकड़ा जा सकता है?'' इस दृष्टि से विद्याभूषण ने दो-तीन चीजों को रेखांकित किया है। रचनाकारों को उन पर ध्यान देना चाहिए। पहला विधा या अपने

फॉर्म के प्रति रचनाकारों की अवज्ञा, जिसके कारण पाठकों के सामने प्रेषणीयता का संकट उपस्थित हो जाता है। दूसरे भाषिक रचाव में बेहरकत अनगढ़पन के कारण अधिकांश कविता गद्य जैसी उद्‌गार मात्र बन गई है। उसका नतीजा यह हुआ कि 'कविता की जमीन पर सूखी घास की ढेर है और जिसे चाबुक खाकर भी क्षुधातुर घोड़े चरने को तैयार नहीं हैं।

इसी तरह उन्होंने अधिकांश अखबारों के रविवासरीय में छपने वाली अजीबोगरीब कविताओं और अनियतकालीन लघु पत्रिकाओं में साया होने वाली कविताओं को 'दस्तावेजी सनद' देने से इंकार किया है। उनका साफ-साफ कहना है कि सिर्फ विचारधारा या शैली-शिल्प के चमत्कार के बल पर आज की कविता पाठकों तक नहीं पहुंच सकती। 'दलित विमर्श की अंतर्धाराएं' आलेख में लेखक ने कई कोणों से विचार कर यह स्थापित किया है कि दलित साहित्य होने के पहले उस रचना को साहित्य भी तो होना चाहिए। दलित विमर्श की दृष्टि से दो साहित्यकारों के कथन विचारणीय हैं। कथाकार राजेंद्र यादव का कहना है कि दलित लेखन वैचारिक बहसों में ज्यादा पड़ गया है और रचनात्मक लेखन उस अनुपात में नहीं हो रहा है। वीरभारत तलवार का भी निष्कर्ष गौरतलब है कि ''आज दलितों की तरह दलित लेखक की चेतना भी जातिप्रथा के बंधनों से मुक्त नहीं हुई।''

आगे के चौदह आलेखों की प्रकृति 'संस्मरणात्मक किंतु मूल्यांकनपरक है। इसके पहले के आलेख जहां इस पुस्तक के लेखक के गंभीर और तलस्पर्शी व्यक्तित्व को उद्‌घाटित करते हैं वहीं ये संस्मरणात्मक आलेख उसके चिंतन की सरसता और कवि-लेखकों की, साहित्य में स्थिति और जीवन में उनके संघर्षों को मुखर करते हैं।

विद्याभूषण को अपनी बात मितभाषी शैली में कहने की महारत हासिल है। एक रेखाचित्रकार की तरह 'एक इंद्रधनुषी यात्रा' में उन्होंने कतिपय रेखाओं में ही महादेवी वर्मा के व्यक्तित्व और उनकी सर्जना को बांध दिया है। समग्रता में देखें तो ''महादेवी का कविता-संसार एक ऐसा महाकाय दर्पण अवश्य है जिसमें हर किस्म के दर्शनार्थी को अपनी मान्यताओं की छवि दिख जाती है। महादेवी के गीतों-प्रगीतों की संरचनात्मक प्रकृति संश्लिष्ट है, अभिव्यक्ति संकेतात्मक है और शब्द-शिल्प लाक्षणिक और प्रतीकात्मक है।'' उनकी गद्य कृतियों पर उसकी यह टिप्पणी कितनी मौजूं है : यह रेखांकित करना जरूरी है कि महादेवी की गद्य कृतियां उनकी कविताओं से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। न केवल यथार्थजीवी संवेदना दृष्टि के कारण बल्कि परवर्ती हिंदी कथा में भाषा-विकास के संदर्भ में भी। उसका यह कथन भी विचारणीय है कि हिंदी की परवर्ती कथा-लेखिकाओं में

जहां कहीं परिष्कृत गद्य/मानवीय उदारता और वस्तुनिष्ठ समाज-दृष्टि मिलती है उसका उत्स महादेवी का गद्य है।

''एक कथाकार के रूप में उनका जादू यह है कि वे अविश्वसनीय और अवास्तविक लगने योग्य कथा-प्रसंगों को भी संवेगात्मक स्तर पर स्वीकार्य बना देते हैं।'' 'शुभ्रनिष्ठा का सर्जक व्यक्तित्व' शीर्षक आलेख में लेखक ने कथाशिल्पी जैनेंद्र का मूल्यांकन उपर्युक्त शब्दों में किया है।

किसी साहित्यकार के मूल्यांकन की आधारशिलाएं क्या हो सकती हैं, इस संदर्भ में लेखक का यह कथन उल्लेखनीय है : ''वस्तुतः किसी भी लेखक का मूल्यांकन उस विशेष ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है, जिस दौर में उसकी रचनाओं ने अपने पाठक-समाज को आंदोलित किया हो और परंपरा की कड़ी के रूप में साहित्य के परवर्ती विकास को प्रेरित या प्रभावित किया हो।''

अज्ञेय-संबंधी अपने आलेख का शीर्षक विद्याभूषण ने दिया है : 'साहित्य में एक ट्रेंडसेटर हस्ताक्षर'। वस्तुतः अज्ञेय ने हिंदी की हर विधा की प्रवृत्ति का दिशानिर्देश और निर्धारण अपनी बहुआयामी प्रतिभा और साहित्यिक गतिविधियों से किया। उनमें इसकी क्षमता थी और वे इसे बखूबी कर सके। उनका मूल्यांकन लेखक ने कई अर्थवह उक्तियों के माध्यम से किया है : ''उनके योगदान को किसी भी समकालीन लेखक की तुलना में अधिक शब्द दिए जा सकते हैं। हिंदी में अज्ञेय की तुलना में सिर्फ अज्ञेय को ही खड़ा किया जा सकता है। अज्ञेय का कृतित्व उनकी दिशाखोजी यात्रा का परिणाम है। उनके उपन्यासों और कहानियों में समकाल सिर्फ एक ढांचा है, फ्रेम है जिसमें वे अनुभूत सत्य का आधार तलाशते हैं। 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' की तार्किक परिणतियां उनके विचारों और अनुभवों के संश्लेष से जनमी हैं। उनमें किसी बाहरी विचार दर्शन की खोज फलप्रद नहीं होगी। एक कवि के रूप में उनकी उत्कृष्टता कहां स्थापित होती है? मुझे वे समग्रता में श्रेष्ठ लगते रहे हैं।'' ...''बड़ी बात यह है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता की बुनावट की लगभग तमाम डिजाइनें अज्ञेय से शुरू होती हैं।'' ये वे टुकड़े हैं जिनके आधार पर लेखक ने अज्ञेय के कृतित्व को एक समतोल बिंदु पर परखा है। मुझे अचरज इस बात का है कि विद्याभूषण ने अज्ञेय पर यह आलेख तब लिखा जब उनकी जन्मशती की आपा-धापी नहीं थी। संभवतः अपने-अपने अज्ञेय के संपादक की नजर विद्याभूषण के इस आलेख पर नहीं पड़ी। अन्य आलेखों में बुकशेल्फ में रखी एक किताब के बहाने विद्याभूषण ने डॉ. द्वारका प्रसाद के उपन्यास तथा उनकी कई कहानियों की ओर पाठकों का ध्यान खींचा है। उनका 'घेरे के बाहर' उपन्यास एक दौर में अश्लीलता के प्रश्न पर चर्चाओं की सारी

सीमाओं को लांघ गया था। उनका लेखकीय जीवन तमाम उतार-चढ़ावों के दौर से गुजरता हुआ सत्तर वर्षों का रहा, फिर भी मुख्य धारा में वे स्वीकार नहीं किए जा सके। 'बाम चेतना का अग्रणी कवि' में केदारनाथ अग्रवाल का, 'शतदली सृजनशीलता का विस्तार' में धर्मवीर भारती का, 'भाषा की वेदी पर एक निष्कम्प दीप' में फादर कामिल बुल्के का, 'मिथ से सच तक फैला रंगकर्म' में भिखारी ठाकुर का, 'एक कंठ विषपायी' में रांची के लेखक शिवचन्द्र शर्मा का, 'तर्क-वितर्क के महारथी' में रांची विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अक्खड़ मनीषी डॉ. रामखेलावन पांडेय का, 'यादों में किट्टू का किट' में कलकत्ता के साप्ताहिक पत्र 'रविवार' में हर सप्ताह 'तीसरी आंख' शीर्षक से अपना स्तंभ लिखने वाले कृष्णचंद्र चौधरी उर्फ किट्टू का, 'अथर्व मार्ग पर एक गीत यात्रा' में पटना के कवि रामनरेश पाठक का, 'महासर्ग का पुनर्पाठ' में स्मृति शेष अग्रज राजकमल राय का और अंतिम स्मृति चित्र 'परिचय इतना इतिहास यही' में अपनी जीवन संगिनी शैलप्रिया का वेदना मुखर मूल्यांकन किया है।

विद्याभूषण के 31 आलेखों से गुजरते हुए उनके समीक्षक की जहां तटस्थता से हम दो-चार होते हैं वहीं हमें उनकी विवेचना की साफगोई का कायल होना पड़ता है। उनके भाषा-संस्कार अत्यंत शालीन और सत्य कथन की ओर झुके हुए हैं। वे कभी भाव-विह्वल या कटु-तिक्त शैली का सहारा नहीं लेते। उनकी समीक्षा दृष्टि जितनी तीखी, मर्मोद्घाटक और सटीक, संयत है उतनी ही सूक्ति-परक भी है। उनमें साहित्येतिहास के विभिन्न मोड़ों पर खड़े होकर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक हिंदी कथा लेखन, काव्य प्रवाह और वैचारिक विमर्शों में होने वाले बदलावों को परखने की अपूर्व क्षमता है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में/विद्याभूषण/शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ₹ 350

1260, नया रामनगर, पाठक का बागीचा, उरई-285001, मो. 09839617349

एक गिरमिटिया के भोगे हुए यथार्थ का दर्द-ए-दास्तान

डॉ. श्रीकांत सिंह

प्रायः ऐसी पुस्तकें कम ही होती हैं, जो कहानी-उपन्यास-आत्मकथा-यात्रा संस्मरण-इतिहास-राजनीति-शोधग्रंथ आदि का एक साथ रसास्वादन कराती हैं। 'भूतलेन की कथा' वैसी ही कम पुस्तकों में से एक खास पुस्तक है जो एक साथ उपर्युक्त साहित्यिक विधाओं व देश के इतिहास-राजनीति के एक विशेष पक्ष को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक गिरमिटिया (कुली/मजदूर) बनकर फीजी गए और 21 वर्षों तक वहां रहकर भारत लौटे तोताराम सनाढ्य के परदेश व स्वदेश में भोगे हुए यथार्थ का दर्द-ए-दास्तान है, जिसे पढ़कर मार्मिक हो जाना पड़ता है। यह पुस्तक न केवल एक गिरमिटिया तोताराम सनाढ्य के कष्टानुभव व करुण कहानी को बयान करती है, बल्कि उन जैसे लाखों गिरमिटियाओं की गरीबी-गुलामी, उनके दुःखों-संघर्षों की कहानी तथा अपने वतन की जड़ों से कट जाने की संत्रासजन्य पीड़ा को भी अभिव्यक्त करती है। इस पुस्तक के संपादक त्रय—बृजविलाश लाल, आशुतोष कुमार एवं योगेंद्र यादव—साधुवाद के पात्र हैं। उन्होंने उस जीवंत इतिहास को ऐसे उम्दा रूप में प्रस्तुत किया है कि इस पुस्तक को एक ही बैठकी में पढ़ जाने को विवश हो जाना पड़ा।

आज के भूमंडलीकरण के दौर में, जो सही मायने में भूमंडीकरण है और जिसके जादुई जाल में पूरी दुनिया लुभाई और फंसाई जा चुकी है, ऐसे में इस पुस्तक की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है। क्योंकि, कभी अधिकाधिक सुख-सुविधा-धनार्जन के लोभ में ही, दुःखपूर्ण जीवन को 'सुखिया' के रूप में संवर जाने की लिप्सा में ही, इस देश के अनेक लोग दूसरे देशों में चले गए थे। जिस गुरबत-फाकाकशी से आजाद होने के लिए और एक आदमी के रूप में ढंग की जिंदगी जीने के लिए वे वहां गए थे, वह उनके लिए ठीक उलटा साबित हुआ। वे जानवर से भी बदतर जीवन जीने को अभिशप्त बन बैठे। कई तो पानी के जहाज में भेड़-बकरियों-से ठूंस-ठूंसकर जाने के क्रम में और खाने के अभाव में ही दम तोड़कर चल बसे थे। क्योंकि, उन्हें खाने के लिए पत्थर-से कड़े 'डॉग-बिस्कुट' दिए जाते थे। बाकी जब वहां गए तो कुछ प्रतिकूल आबोहवा के कारण चल बसे। कुछ कमरतोड़ श्रम करते-करते खुदा को प्यारे हो गए। कुछ अकेलापन महसूस करते हुए और यह सोचते हुए कि अब स्वदेश-वापसी नहीं होगी खुदकुशी करके जान गंवा बैठे। पुस्तक के ये वाक्य इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं—"प्लांटेशनों की कमरतोड़ मेहनत, सख्त अनुशासन और जीवन का अकेलापन और ऊपर से यह बढ़ता हुआ भय कि अब तो कभी घर लौटना होगा ही नहीं, असलियत में तभी आदमी खुदकुशी

करता था।'' (पृ. 23)। ध्यातव्य है कि पांच वर्षों की 'शर्तबंदी प्रथा' के तहत वे वहां गए थे। कई इस कालावधि के बीत जाने पर लौटे भी। कई ने वहीं रह जाना श्रेयस्कर समझा। जो लौटे भी उनके लिए कारुणिक पक्ष यह रहा कि उन्हें अपनी जाति-जमात में पुनः शामिल किए जाने को लेकर कई प्रकार की परीक्षाएं देनी पड़ीं। अपने ही घर-परिवार-वतन में 'फिट' नहीं बैठने के कारण वे पुनः उसी प्रवासी जीवन में चले गए। इस यथार्थ को पुस्तक के इन वाक्यों में देखा जा सकता है—''ज्यादातर लोगों के मन में यही रहा कि पांच साल बाद अपने-अपने घर लौट जाएंगे। ज्यादातर तो लौटे ही नहीं, क्योंकि उन्हें नई जगह में ही अपना भविष्य सुरक्षित दिखाई दिया और कुछ आज और कल पर ही टालते गए और वहीं बस गए। कुछ लोग भारत लौट भी गए परंतु उनमें से कुछ लोगों को फिर वापस फीजी लौटना पड़ा, क्योंकि वे भारतीय समाज में फिट ही नहीं हो पाए। तोताराम के अपने भारत लौटने के बाद के कटु अनुभव फीजी भारतीयों तक भी पहुंच चुके थे। ऐसी बातों ने भी बहुतों को वहीं रहने के लिए उकसाया होगा।'' (पृ. 22)। जाहिर-सी बात है कि अनेक कष्टों के उपरांत भी, या यह जानकर कि अपने देश में भी जाने पर कम कष्ट नहीं सहना पड़ेगा, वे ही लोग वहां रह गए। कालांतर में अपने श्रम, बुद्धि व चातुर्य से वे धीरे-धीरे मजदूर से किसान बनते गए तथा अन्य सम्मानजनक व सुविधाजनक स्थिति को भी प्राप्त किया। 'विश्वग्राम' के मौजूदा मोहक वातावरण में विश्व के कई देशों में कभी कुली-मजदूर बनकर गए, वहां की किस्मत सुधारने वाले, जंगलों को काटकर गांव-शहर बसाने वाले और हर प्रकार से उन देशों को गुलजार करने वाले, उन भारतीयों के वहां के 'मूल निवासी नहीं होने' तथा 'परदेशी' करार दिए जाने का संकट आज कई-कई रूपों में मंडराते नजर आ रहा है। विदेश को कौन कहे, अपने देश भारत में भी, जहां का संवैधानिक ढांचा संघीय है और देश का हर व्यक्ति एक-दूसरे प्रदेश में आने-जाने-रहने का कानूनी हक रखता है, यहां भी गाहे-बेगाहे लोगों को खदेड़ने-मारने-पीटने की घटना आम बात हो गई है। मतलब क्या विदेश, क्या अपना देश? प्रवासी होने की पीड़ा सब जगह! इस कटु यथार्थ के आईने में जब हम इस पुस्तक के प्रतिपाद्य पर नजर दौड़ते हैं तब यह पुस्तक और अत्यधिक मौजूं जान पड़ती है।

समीक्ष्य पुस्तक सात अध्यायों में विभक्त है, जिसके अनुक्रम इस प्रकार हैं—1. भूमिका : विषय और संदर्भ, 2. गिरमिटिया तोताराम सनाढ्य फीजी में, 3. संस्कार, 4. फीजी के आदिम निवासी, 5. तोताराम सनाढ्य का स्वदेश आगमन, 6. तोताराम के व्याख्यान और 7. तोताराम और गांधीजी के बीच पत्राचार। इन अध्यायों के अतिरिक्त परिशिष्ट भी है जिसमें तोताराम के इमिग्रेशन सर्टिफिकेट की छायाप्रति है। साथ ही बांग्ला, हिंदी और उर्दू में इकरारनामा की शर्तें तथा फीजी के नगर और उनके मानचित्र भी इसमें संलग्न हैं। संपादकों ने इस पुस्तक के निर्माणार्थ और किन-किन ग्रंथों से सहायता ली है, इसका भी उल्लेख है। सबसे अंत में इसमें प्रयुक्त कतिपय कठिन शब्दों के अर्थ भी दिए गए हैं जो पुस्तक की पठनीयता में सहायक का काम करते हैं। इस पुस्तक के अनुक्रम, समस्त तथ्य-कथ्य, परिशिष्ट को देखने-पढ़ने से यह बात साफ हो जाती है कि पुस्तक में किसी प्रकार की हवाबाजी नहीं है। यह हड़बड़ी में नहीं लिखी गई है, बल्कि यथार्थ की ठोस जमीन पर काफी श्रमपूर्वक इसका निर्माण किया गया है। तिथियां, विभिन्न प्रकार के आंकड़े, घटनाएं, समय, संख्या, प्रतिशत आदि जहां एक तरफ इस पुस्तक को इतिहास की तरफ खींच ले जाते हैं और एक काल विशेष में घटी घटनाएं, गौरांगों के षड्यंत्र, देशी दलालों के कुचक्र आदि राजनीति की तरफ। वहीं इसमें दिए गए संदर्भ व ग्रंथ सूची तथा अन्य परिशिष्टांश शोधग्रंथ होने का इशारा देते हैं। तोताराम सनाढ्य ने अपने और अन्य गिरमिटिया बंधुओं के विषय में जो अनुभव बयान किए हैं, जिस संवेदना और करुणा में आर्द्र हो भोगे हुए यथार्थ का बनारसीदास चतुर्वेदी की मारफत लेखांकन कराया है, वह निस्संदेह साहित्य की अक्षय सामग्री-सी है। इस पुस्तक में आद्यंत कहानी अथवा उपन्यास सदृश एक कथाधारा प्रवाहित होती दिखाई देती है जिसमें पात्र हैं, उनके संवाद हैं, उनके विभिन्न प्रकार के चरित्र हैं, एक देश-काल-वातावरण है, अपने-अपने ढंग की कई प्रकार की भाषा-शैलियां हैं। पुनः एक उद्देश्य के तहत यह पुस्तक रची गई है अथवा संपादित की गई है। नायक के रूप में तोताराम सनाढ्य हैं जो उत्तर प्रदेश के फिरोजाबाद जिला के हिरनगउ गांव में जनमे थे। जो ब्रिटिश शासकों द्वारा विकसित 'शर्तबंदी प्रथा' के तहत मजदूर बनकर 26 फरवरी, 1893 को पानी के जहाज से कलकत्ता से रवाना हुए थे और फीजी पहुंचे थे। उन्होंने फीजी में मजदूर, किसान, पंडित, पुरोहित, कथावाचक आदि की भूमिका का निर्वहन करते हुए वहां 21 वर्ष व्यतीत किए थे और पुनः 1914 में सपत्नी स्वदेश लौट आए थे।

समीक्ष्य पुस्तक के संपादकों के संपादन-कौशल की यह खासियत कही जाएगी कि उन्होंने सर्वप्रथम भूमिका में इस प्रकार विषय और उसके संदर्भ को उद्घाटित किया है कि पुस्तक के प्रतिपाद्य को समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। फिर आगे के अध्यायों में क्रम-क्रम में फीजी गए भारतीय प्रवासियों के जीवन-संघर्ष, रहन-सहन, धर्माचार, संस्कार, त्यौहार आदि के वर्णन भी रोमांचक हैं। परदेश में जाने के बाद किस प्रकार उन लोगों ने अपने को जिलाए रखा और किस प्रकार अपने धर्माचारों-त्यौहारों-पोथियों को बचाए रखा, कितना वे भारतीय बने रहे और कितना फीजीवासी के रूप में बदल गए—इन सबका बड़ा ज्ञानवर्द्धक और मार्मिक वर्णन है इस पुस्तक में।

समीक्ष्य पुस्तक में फीजी के आदिम निवासियों के चालचलन, कारीगरी और खेती, जातीय प्रबंध-संगठन, पंचायतों का संगठन, मुखिया का कर्तव्य, नाच-गाना, विधवाओं के साथ बर्ताव आदि का बड़ा तथ्यपरक उद्घाटन किया गया है। पुस्तक की पठनीयता को जायकेदार बनाने में उक्त उद्घाटन का भारी योगदान है। जिन फीजी के आदिम निवासियों को असभ्य समझा जाता था, वे तथाकथित सभ्य जनों से भी कितना अत्यधिक मानवीय और परोपकारी थे, इसका बड़ा सटीक वर्णन इस पुस्तक में उपलब्ध है। इस संदर्भ में पुस्तक के इन वाक्यों को देखा जा सकता है—''ग्राम में भोजन के समय जो जिस घर में बैठा होगा, वहीं पर भोजन कर लेगा। अपने-पराए का कोई भेद नहीं है। भोजन पर सबसे पहले विधवा, उसके पीछे अतिथि फिर सब घर के मिलकर बैठेंगे और सब एक साथ खाते हैं। आपस में ये बड़ा प्रेम रखते हैं, अपने जातीय उत्सवों पर सब सम्मिलित होते हैं और अपने मुखिया तथा राजा का बड़ा आदर करते हैं।'' (पृ. 72)।

समीक्ष्य पुस्तक में कुलीप्रथा पर दिए गए तोताराम के व्याख्यान से तल्ख यथार्थ के नए-नए तथ्य प्रकाश में आए हैं। यह कि, कुलीप्रथा दासत्वप्रथा-गुलामी से किसी हालत

में कम नहीं थी। गोरे प्लैंटर वहां गए भारतीयों से गधे और कुत्ते जैसा व्यवहार करते थे। कंपनी वाले भारतीय कुलियों को खेती का यंत्र समझते थे। उनसे मैला तक उठवाते थे। अपने विभिन्न व्याख्यानों के माध्यम से तोताराम ने फीजी गए भारतीयों के दुःख-दर्द के प्रति भारतीयों में सहानुभूति के भाव विकसित करने की कोशिश की है। चूंकि, ये व्याख्यान उनके भोगे हुए और अपनी आंखों देखे हुए यथार्थ के दुखद पहलू के रूप में हैं, इसी कारण पाठक-वर्ग भी उनसे भावाभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता।

समीक्ष्य पुस्तक के एक महत्त्वपूर्ण अंश के रूप में तोताराम और गांधी जी के बीच पत्राचार है। विविध पत्रों के मजमून से यह अंतर्ध्वनि निकलती है कि तोताराम गांधीजी के अनन्य व आत्मीय रूप में थे। एक पत्र में गांधीजी ने तोताराम की पत्नी गंगा देवी को, जो अस्वस्थ चल रही थीं, दूध के साथ नीम के दस पत्ते का रस लेने की सलाह दी है।

...बहरहाल, समीक्ष्य पुस्तक की समग्र कथावस्तु के अवलोकनोपरांत निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि यह पुस्तक पूरी तरह तथ्याधारित और पठनीय है। तोताराम सनाढ्य एवं अन्य गिरमिटिया जनों के भोगे गए यथार्थ को सफलतापूर्वक संप्रेषित करने में संपादक-त्रय की श्रम-साधना कारगर सिद्ध हुई है। चूंकि, इस पुस्तक में स्वानुभूत सत्य के प्रसंग अनुस्यूत हैं, इस कारण इससे न केवल पढ़ने का आनंद प्राप्त होता है, बल्कि साक्षात् देखने एवं स्वयं भी उसे अनुभूत करने जैसा बिंब-प्रतिबिंब निर्मित होते जाता है। कदाचित् 'फर्स्टहैंड' के अनुभव को प्रसारित करने का प्रभाव ही ऐसा होता है। यह बात दीगर है कि इसमें कई जगह प्रूफ संबंधी भूलें और व्याकरणिक असावधानियां दिखाई पड़ी हैं। लेकिन, पुस्तक के समग्र प्रभाव एवं रोचकता को देखते हुए इसे फिलवक्त नरजरअंदाज भी किया जा सकता है।

भूतलेन की कथा/संपादक : बृजविलास लाल, आशुतोष कुमार, योगेंद्र यादव/राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 300

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिंदी-विभाग, कॉलेज ऑफ कॉमर्स, पटना-20 (मगध विश्वविद्यालय) मो. 09470466179

इतिहास की साहित्यिक प्रस्तुति

पुनीत कुमार

इतिहास को 'भूतकाल की राजनीति' और राजनीति को 'वर्तमान का इतिहास' कहा जाता है। 'वर्तमान का इतिहास' इस दृष्टि से कौतूहल का विषय अधिक नहीं रहता है, क्योंकि कई आयामों से उस पर वैचारिक व अन्य विश्लेषण सुविधाजनक रूप में उपलब्ध रहते हैं और सुधीजन स्वेच्छा से अध्ययन-मनन कर सकते हैं, किसी विषय विशेष पर। परंतु संकट 'भूतकाल की राजनीति में' यह अवश्य हो सकता है कि संबंधित तथ्य व विवरण पूर्वाग्रह या अन्य किसी विकार के आखेट हों। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम हिंदुस्तान के इतिहास का वह अंश है, जिसका प्रत्येक पक्ष वर्तमान इक्कीसवीं शताब्दी में भी विश्वसनीय विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। यह वह संग्राम था जिसके प्रत्येक पक्ष की विजयी होने अथवा पराजित होने की व्याख्या सुविधानुसार की जा सकती है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के तीन पक्ष स्पष्ट दिखाई देते हैं एक—ब्रिटिश शासन व्यवस्था, दूसरा—ब्रिटिश शासन से आजादी चाहने वाला पक्ष और तीसरा—एक नए राष्ट्र की मांग करने वाला पक्ष। यद्यपि इस तीसरे पक्ष को दूसरे पक्ष का एक हिस्सा भी स्वीकारा जा सकता है। आजादी की मांग करने वालों को आजादी मिली, नए देश की चाह रखने वालों को नया देश मिला और ब्रिटिश शासन को यह संतुष्टि कि उसने स्वेच्छा से एक गुलाम राष्ट्र को स्वतंत्र किया। इन तीनों पक्षों की पराजय भी इस प्रकार से देखी जा सकती है कि ब्रिटिश व्यवस्था ने विवशता व निर्बलता के चलते एक पराधीन राष्ट्र को स्वतंत्र किया, स्वतंत्रता के इच्छुकों की पराजय इसमें हुई कि उन्हें एक कटा-बंटा राष्ट्र मिला और नया राष्ट्र चाहने वालों की हार इसमें हुई थी कि उनकी स्वार्थपरता अवश्य सिद्ध हुई, परंतु लाखों मानवीय जीवन की आहुति लेकर। यथार्थ यह भी है कि इस जय-पराजय की कथा में कई पेंच हैं। लगभग उतने ही पेंच हैं जितने कि इंसानी चरित्र व प्रवृत्ति में होते हैं। साधारणतः यह कल्पना करना ही दुष्कर प्रतीत होता है कि जो राष्ट्र गुलामी की जंजीरों की जकड़ की मुक्ति की कामना से संघर्षरत हो, अचानक उसका एक कार्यकारी अंश 'राष्ट्र के बंटवारे' जैसी अनैतिक मांग पर अड़ जाए। इस 'जय-पराजय' की महाकथा की अंतर्कथाएं ऐसे तमाम पेचों को स्पष्ट करने में सक्षम हो सकती हैं यदि वे पूरी निर्दोषता से समक्ष आएं।

'भारतीय राजनीति के दो आख्यान' में लेखक ने स्वतंत्रता संघर्ष के कुछ पक्षों को पूरी सदाशयता के साथ प्रस्तुत किया है। इस पूरी पुस्तक में प्रियंवद ने अपने विश्लेषण को दो बिंदुओं पर केंद्रित किया है, प्रथम

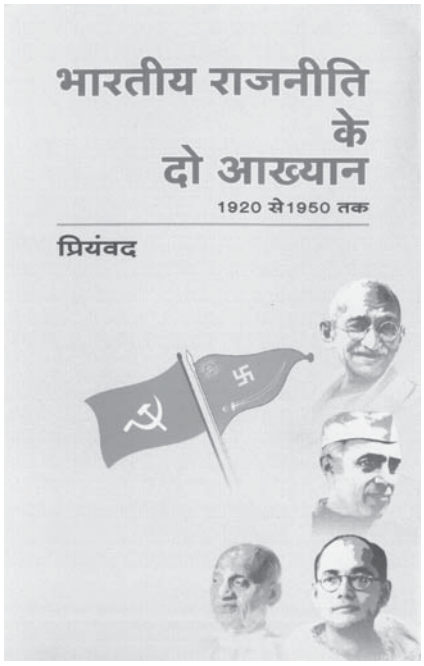

बिंदु के अंतर्गत गांधी जी, पं. नेहरू एवं सुभाषचंद्र बोस के पारस्परिक संबंधों को विभिन्न तथ्यों व अभिलेखित साक्ष्यों के माध्यम से चित्रित किया गया है और इसी चित्रण में भारतवर्ष के परिदृश्य में वामपंथ और संबंधित चरित्रों के क्रमशः उद्‌भव और उद्‌विकास पर भी प्रभावशाली प्रकाश लेखक ने डाला है। स्वतंत्रता संघर्ष के दौर में महात्मा गांधी, पं. जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, मानवेंद्रनाथ राय और सरदार बल्लभ भाई पटेल जैसे शीर्ष नेताओं की साम्यवाद के प्रति क्या धारणा थी? कार्ल मार्क्स स्वयं भारतवर्ष को लेकर किस प्रकार का चिंतन कर रहे थे? यह सब प्रियंवद ने बहुत स्पष्ट ढंग से 'प्रथम आख्यान' में वर्णित किया है। द्वितीय बिंदु के अंतर्गत आजादी मिलने के बाद के उस दौर को लेखक ने बहुत ईमानदारी से लिखा है जबकि शेष भारतवर्ष बंटवारे के बाद के जख्मों को भरते हुए एक नया आकार प्राप्त करने के लिए प्रयासरत था। इस 'दूसरे आख्यान' में हिंदुत्व के आकर्षण के पाश और इस 'पाश' के चक्रव्यूह को छिन्न-भिन्न करने के प्रयासों, महात्मा गांधी की हत्या, नाथूराम गोंडसे के विचारों, सरदार पटेल के राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति दृष्टिकोणों, पं. नेहरू की लोकतांत्रिक मनोवृत्ति, समाजवादियों की भारतवर्ष के निर्माण में भूमिका और मुस्लिम मनोभावों का सारगर्भित विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

वर्तमान भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के कई प्रमुख विकारों, यथा—कट्टरपंथी, प्रतिक्रियावादी व संप्रदायवादी महत्वाकांक्षा का सर उठाना, परिवारवाद, जातिवाद, धर्मनिरपेक्षता की असंतुलित व्याख्या, राजनीति में धर्म का घालमेल और सांप्रदायिक तनाव इत्यादि के प्रारंभिक लक्षणों की अनुभूति इस पूरी पुस्तक में कई पृष्ठों पर कराने में प्रियंवद पूरी तरह सफल रहे हैं। 'भारतीय राजनीति के दो आख्यान' पुस्तक ने कई ऐसे रोचक तथ्यों का उल्लेख यत्र-तत्र किया है कि वे रहस्योद्‌घाटन का संबोधन प्राप्त करने के हकदार प्रतीत होते हैं। उदाहरण के तौर पर निम्नांकित पर दृष्टिपात किया जा सकता है—'...कांग्रेस में गांधी ने पहली बार अस्पृश्यता के विरुद्ध विश्वसनीय तरीके से आवाज उठाई।...' (पृ. 47)

'...भारत में पहली बार एक राष्ट्र होने की प्रतीति गांधी के असहयोग आंदोलन ने ही दी।...' (पृ. 51)

'...यह कांग्रेस के अंदर विधिवत वामपंथ का सूत्रपात था जो मुख्य रूप से किसी साम्यवादी द्वारा नहीं बल्कि, नेहरू तथा सुभाष के माध्यम से आया था।...' (पृ. 60)

'...पर कटु सत्य यही है कि पटेल के मुकाबले 1929 के अध्यक्ष के लिए जवाहरलाल का चुना जाना, भारतीय राजनीति में लोकतांत्रिक पद्धति का अतिक्रमण और वंशवाद की विधिवत स्थापना का चुनाव भी था, जिसे गांधी ने स्वयं अपनी देखरेख में संपन्न किया था।...' (पृ. 72)

'...बीसवीं सदी की भारतीय राजनीति में भावनाओं और विचारों के द्वंद्व के बीच निरंतर विचलित रहने वाला व्यक्ति संभवतः नेहरू से अधिक दूसरा नहीं था।' (पृ. 86)

'...यह पत्र-व्यवहार शुद्ध रूप से दोनों (गांधी और सुभाष) के बीच एक राजनैतिक मुठभेड़ थी जिसमें सुभाष धीरे-धीरे गांधी द्वारा हाशिये पर डाले जा रहे थे।...' (पृ. 103)

'...नेहरू ने यदि 1939 में सुभाष की तरह अपने वामपंथ तथा समाजवाद के प्रति कठोर आग्रह रखते हुए सुभाष का साथ दिया होता, तो कांग्रेस व देश का इतिहास, संभव है अच्छा या बुरा पर कुछ बदला हुआ होता।...' (पृ. 140)

'...देश के विभाजन में भी, स्टालिन की 'नेशनेलिटी' की थ्योरी के अनुसार ही उन्होंने (कम्युनिस्ट) निर्णय लिए और मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग का समर्थन किया।...' (पृ. 177)

'...1920 से ही भारत में बुर्जुआ राष्ट्रवाद का उदय भी होता है। कांग्रेस देश के पूंजीपति व उद्योगपति के साथ सदैव नाभि-नालबद्ध रही।...' (पृ. 186)

'...पटेल ही संभवतः अकेले नेता थे जिन्हें आजाद हिंद फौजियों के मुकदमें, पुनर्वास आदि की सबसे अधिक चिंता थी।...' (पृ. 220)

'...गांधी की हत्या, नेहरू और अंबेडकर के प्रयास और पटेल के रा.स्व.सं. के प्रतिबंध ने, कांग्रेस के अंदर की दक्षिणपंथी ताकतों और उनकी हिंदूवादी सोच पर कुछ समय के लिए अंकुश लगा दिया और परिणामस्वरूप भारत को एक 'धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक संविधान' मिला।...' (पृ. 254)

'...यह बहुत ध्यान से देखा जाना चाहिए कि गांधी का कथित 'सनातनी हिंदू' निरंतर मुसलमानों के पक्ष में बोल रहा था। ...गांधी ने अपने वध से अनायास ही देश के किसी भी तरह के हिंदूवादी स्वरूप की तरफ झुकने की संभावनाओं को खत्म कर दिया।' (पृ. 260)

'...पटेल का राष्ट्रवाद निस्संदेह हिंदू संस्कृति से ढला था। वह हिंदू थे। हिंदुओं के पक्षधर थे, हिंदू संस्कृति के पक्षधर थे, पर 'हिंदू भारत' के पक्षधर किसी तरह नहीं थे। वह मुसलमानों के विरोधी नहीं थे।...अपने राजनैतिक उद्देश्यों से बाहर और धार्मिक रूढ़ियों के अनुसार न पटेल हिंदू थे और न जिन्ना मुसलमान,... (पृ. 261)

'...1920 में कांग्रेस से जिन्ना का अलग होना देश की राजनीति का सबसे बड़ा दुर्भाग्य था, जिसने देश का सबसे राष्ट्रवादी, प्रगतिशील व संवैधानिक दृष्टिकोण वाला मुसलमान और हिंदू-मुसलमान एकता का सबसे बड़ा प्रवक्ता मुसलमान, खो दिया। मुस्लिम राजनीति के इस शून्य को फिर कोई नहीं भर पाया। न जिन्ना स्वयं, न गांधी।' (पृ. 274)

'...गांधी ने धर्म और राजनीति का यह पहला अक्षम्य व घातक घालमेल किया था, जिससे वह बाद में स्वयं ही जीवन भर नहीं निकल पाए और अंततः देश का विभाजन हुआ।...' (पृ. 277)

'...नेहरू जहां अपनी धर्मनिरपेक्ष, उदारवादी, अंतर्राष्ट्रीय, समाजवादी संस्थाओं के प्रति निष्ठा और अहिंसक छवि को सदैव प्राथमिकता देते थे और इसे सुरक्षित रखने के प्रति सतर्क रहते थे, पटेल इनसे निरपेक्ष होकर 'राष्ट्रहित' की दृष्टि से (तत्काल) निर्णय लेकर समस्त चीजों को तय करते थे। यही कारण था कि आजादी के तत्काल बाद के वर्षों में 'कथित हिंदू' न होते हुए भी, पटेल उस गलत छवि और प्रचार के आसानी से शिकार हो गए, जैसा वह मूलतः कभी नहीं थे।...' (पृ. 315)

'...पटेल द्वारा मंदिर जीर्णोद्धार की घोषणा और सांवलदास गांधी द्वारा (उसके लिए) पचास हजार रुपए दिए जाने का गांधी ने कड़ा विरोध किया।...' (पृ. 393)

'...बाबरी मस्जिद विवादित मुद्दा हो गया था, इसलिए पटेल ने इसमें पूरी तटस्थता के साथ अपनी भूमिका निर्धारित की थी...ध्यान दें तत्कालीन डी.एम. नैय्यर, नगर मजिस्ट्रेट गुरुदत्त सिंह व बाद में नगर मजिस्ट्रेट बने मार्कंडेय सिंह तथा मुख्यमंत्री बने बल्लभ

पंत, तीनों हिंदूवादी थे। पटेल ने उन्हें मुसलमानों के विरुद्ध कोई भी गलत कदम उठाने से रोका था।...' (पृ. 398)

'...अपने अंतिम समय में नेहरू पूरी तरह धर्म, कर्मकांड व तांत्रिकों तथा ज्योतिषियों के चक्कर में भी पड़े थे। नेहरू की वसीयत, जिसमें उन्होंने लिखा था कि उनकी अंत्येष्टि में कोई धार्मिक कर्म न किया जाए, मृत्यु से दस साल पहले लिखी गई थी।...' (पृ. 400)

इस तरह के महत्त्वपूर्ण और रोचक विश्लेषण एवं निष्कर्ष 'भारतीय राजनीति के दो आख्यान' विभिन्न अध्यायों में अनायास स्पष्ट होते रहते हैं। संपूर्ण पुस्तक में भाषा-शैली कथानक के अनुरूप प्रयुक्त हुई है। पुस्तक इस दृष्टि से भी प्रशंसनीय है कि उल्लिखित एक भी घटना अथवा दृश्य विश्वसनीयता के संकट से ग्रस्त दिखाई नहीं देता है। प्रियंवद एक स्थापित साहित्यकार हैं और इस ग्रंथ में कई स्थानों पर उनकी साहित्यिक सिद्धहस्तता भी परिलक्षित हुई है। कई स्थानों पर लेखक द्वारा शब्दों का चमत्कारिक प्रयोग करते हुए हृदयस्पर्शी विवरण प्रस्तुत किया गया है। अनेक चित्रण पुस्तक समाप्त करने के पश्चात् भी लंबे समय तक मानस पटल पर अंकित रहते हैं, उदाहरणार्थ—14 अगस्त, 1945 को द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होना, चर्चिल का होटल में अपने कुछ खास मित्रों के साथ डिनर लेना और चुपचाप विदा होना। इसी प्रकार गोंडसे को फांसी दिए जाने वाला दृश्य भी एक साहित्यकार की कलम से अक्षरशः निकला हुआ प्रतीत होता है। इस दृश्य के अंतिम परिच्छेद को शब्दशः पढ़कर ही इसको अनुभूत किया जा सकता है "...यदि इतिहास की 'अनिवार्य निर्मम तटस्थता' अनुमति दे, तो भावनाओं तथा अपने लक्ष्य के प्रति गोंडसे की प्रतिबद्धता व समर्पण को, अनेक ऐसे व्यक्तियों के उद्देश्यों के प्रति समर्पण व प्रतिबद्धता के समकक्ष रखा जा सकता है जिसके लिए उन्हें भारत के इतिहास में अतिरिक्त सम्मानीय स्थान दिया जाता है। क्या यह इतिहास के किसी निष्पक्ष विद्यार्थी के लिए उत्तेजक विषय नहीं है कि अंग्रेज सरकार और भगत सिंह के फांसी के तरीके व तथ्य, भारत सरकार व गोंडसे की फांसी के तरीके व तथ्यों से कई सारे साम्य रखते हैं?..."

नोबेल पुरस्कारों की संपूर्ण विश्व में अनन्य प्रतिष्ठा है। अब तक एक बार ऐसा भी हो चुका है कि एक इतिहासकार थ्योडार माम्सन (Theodor Mommson) को 1902 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार दिया गया। दरअसल यह साहित्य और इतिहास के नाभि-नाल संबंधों की वैश्विक स्वीकृति है। साहित्य इतिहास का एक विश्वसनीय स्रोत वर्तमान में भी है और इतिहास सदैव साहित्य के लिए एक प्रेरणास्पद स्रोत रहा है। शायद ही कोई इतिहासकार हो, जिसने समय विशेष के साहित्य का बिना अध्ययन किए अपना लेखन-कार्य किया हो और प्रत्येक साहित्यकार इतिहास से शिक्षा व प्रेरणा प्राप्त कर अपनी लेखनी को समृद्ध करता रहा है। प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन के मध्य बार-बार यह तथ्य चेतन मन में आते रहते हैं। प्रियंवद द्वारा लिखित 'भारतीय राजनीति के दो आख्यान' पुस्तक को पढ़ते हुए और अंतिम पृष्ठ तक आते-आते यह दुआ आमीन कहते हुए स्वतः निकलती है कि काश! भारतीय इतिहास का हर हिस्सा इसी प्रकार 'आख्यान' की शक्ल में लिखा जाए। संपूर्ण पुस्तक अंत तक रोचक व ज्ञानवर्द्धक है और शानदार शैली से मंत्रमुग्ध भी करती है।

भारतीय राजनीति के दो आख्यान/प्रियंवद/वाग्देवी प्रकाशन, विनायक शिखर, बीकानेर-334003/ मूल्य : ₹ 600

एफ-5, प्रोफेसर कॉलोनी, शिवपुरी-473551 (म.प्र.), मो. 094254-29428

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से प्रकाशित पत्रिकाओं के नए अंक

जुलाई-सितंबर 2012, मूल्य : ₹ 100

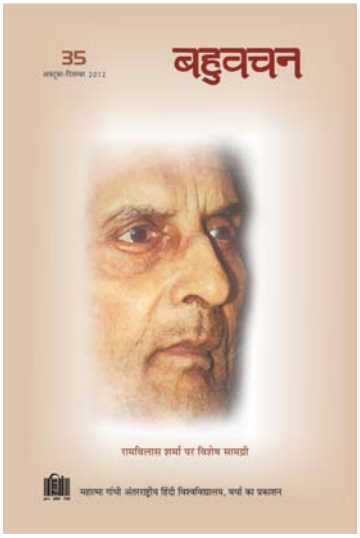

अक्टूबर-दिसंबर 2012 35, मूल्य : ₹ 50

नवंबर-दिसंबर 2012, मूल्य : ₹ 20

पत्रिका की सदस्यता के लिए संपर्क करें :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र), फोन : 07152-232943

ज्ञान शांति मैत्री

खिड़कियां और रास्ते

राजेश्वरी सिंह

सुपरिचित नाटककार जितेंद्र भाटिया के 'खिड़कियां और रास्ते' नामक कृति में 'जंगल में खुलने वाली खिड़की' और 'रास्ते बंद हैं' दो छोटे नाटक संकलित हैं। 'जंगल में खुलने वाली खिड़की' में जहां खिड़की, और खिड़की के बाहर रास्ते ही रास्ते हैं, वहीं 'रास्ते बंद हैं' में न कोई खिड़की और न ही कोई रास्ता है। मृत्यु के बाद का अंतिम पड़ाव। क्षण-प्रतिक्षण पिछला सब कुछ छूटता जा रहा है, पुनर्जन्म की ओर अग्रसर होता हुआ। मध्यवर्गीय अपराध-बोध और स्त्री स्वतंत्रता पर कई नाटक लिखे गए। 'जंगल में खुलने वाली खिड़की' उनमें से एक है। 'रास्ते बंद हैं' में मृत्यु के पश्चात् नरक भोगने को विवश आत्माओं की मनोदशा का मार्मिक चित्रण है। दोनों नाटक मुंबई महानगर पर केंद्रित हैं। 'जंगल में खुलने वाली खिड़की' के तीनों पात्र प्रतीकात्मक हैं।

आधुनिक संस्कृति पर कई नाटक लिखे गए हैं। 'खिड़की और रास्ते' जितेंद्र भाटिया का एक अलग तरह का नाटक है। मध्यवर्गीय और उच्च वर्ग में कभी सामंजस्य स्थापित करने और कभी अंतर्विरोध के छोर तक पराकाष्ठा ले जाने की कोशिश नाटककार ने की है। मुंबई में रहने वाले उच्चवर्गीय पति-पत्नी और छोटे-से गांव में रहने वाले लड़के के बीच समय-समय पर छल, आडंबर, दोगलेपन, अमानवीयता का पर्दाफाश किया गया है। नाटक का घटना-स्थल खंडाला के पहाड़ी इलाके में स्थित एक आलीशान बंगले का ड्राइंग-रूम है। नाटक तीन अंकों में बंटा है।

पुरुष प्रधान समाज में आज भी कई उच्चवर्गीय परिवार ऐसे हैं, जहां स्त्रियों का अपना वजूद कुछ भी नहीं है। समय-समय पर स्त्रियों को पति की व्यंग्यपूर्ण बातों को सुनना पड़ता है। नाटक का पात्र पति कहता है, 'एक जरा-सी छिपकली नहीं संभाली जाती तुमसे! पता नहीं इतना बड़ा घर कैसे संभालती हो बंबई में।' 'कमबख्त जरा-सी हिम्मत नहीं होती औरतों में।' पति लड़के को जहां एक ओर संशय भरी दृष्टि से देखता है वहीं अमीरी और तानाशाही की अकड़ के साथ ही जीवन का अनुभव भी व्यक्त करता है। 'तुमने बताया नहीं, इतनी रात गए तुम बाहर तूफान में क्या कर रहे थे?' 'मैं जब तुम्हारी उम्र का था तुमसे ज्यादा अक्खड़ था। लेकिन मेरी जिंदगी का तजुर्बा कहता है कि दादागीरी से कोई सवाल हल नहीं होता।' नाटक के पात्र पति में असंवेदनशीलता की पराकाष्ठा है। उनके ही शब्दों में 'दो पैसे की सूखी हुई डबलरोटी के लिए किचन में घुसकर चोरी।...क्या हम और तुम इस दर्जे तक गिरने की सोच भी सकते

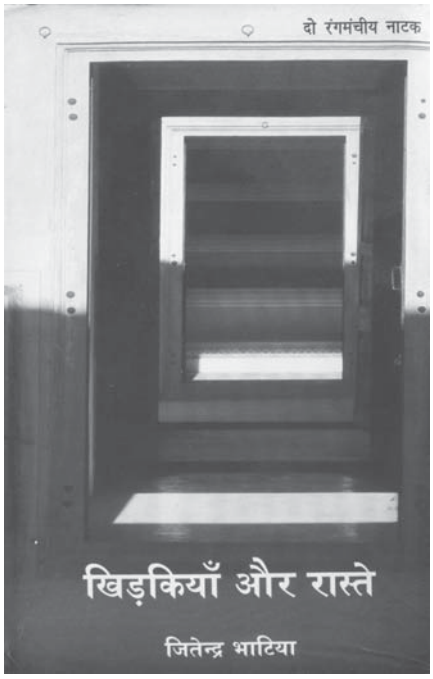

हैं?' 'हां राइफल के कुंदे से मैंने उसे इतना मारा, इतना मारा कि अब वह इस जन्म क्या, अगले जन्म में भी चोरी नहीं करेगी। उसका एक दूध पीता बच्चा भी था।' नाटक का पात्र लड़का पूंजीपति और शोषक वर्ग पर कटाक्ष किए बिना नहीं चूकता, 'जमीन और इस हवाई खिड़की के बीच तीन किलोमीटर का फासला है। तीन हजार मीटर की इस ऊंचाई से आप सिर्फ नियॉन बत्तियों का झिलमिलाना देख सकते हैं, अकाल का बदसूरत चेहरा आपको इतनी ऊंचाई से दिखाई नहीं दे सकता।' नाटक का लड़का अपनी वास्तविकता को बहुत अच्छी तरह जानता है। जीवन की हकीकत का पर्दाफाश करता हुआ वह कहता है—'मेरी जिंदगी में भी उतना ही विरोधाभास हैं जितना आपकी में है। आपने जितने ही समझौते किए हैं मैंने भी...अगर कुछ फर्क है मुझमें और आपमें, तो सिर्फ इतना कि आप अपने-आपको पूरी तरह वॉटरप्रूफ बना चुके हैं और मैं जरा-सा भीगते ही भुरभुराने लगता हूं।'

नाटक की पात्र पत्नी शुरू से ही शोषण का शिकार है। पति समय-समय पर उस पर आधिपत्य बनाए रखना चाहता है। वह उसे दकियानूसी ख्यालों वाली, डरपोक समझता है। 'इस दुनिया में जब आदमी आदमी का शोषण करता है, तो औरत का क्यों नहीं करेगा?' लड़का स्त्री मुक्ति आंदोलन पर विश्वास करता है। वह सोचता है कि स्त्रियों को भी सभी तरह की स्वतंत्रताएं मिलनी चाहिए जो पुरुषों को मिलती हैं। स्त्री का सोचने और कार्य करने का क्षेत्र व्यापक होना चाहिए। 'इस देश में आदमी हमेशा औरतों का शोषण करते हैं, उन्हें ग्लोरिफाइड नौकर या पालतू कुत्ते का दर्जा देकर घर में रखते हैं, इस तरह से उनका इस्तेमाल करते हैं और...और

उन्हें जिंदगी में कुछ बनने का मौका नहीं देते?' लड़के की उपस्थिति से स्त्री को अपने व्यक्तित्व और अस्मिता की ओर ध्यान जाता है। वह स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। वह लड़के के विचार से प्रभावित होती है। वर्षों बाद महत्वाकांक्षाएं जाग उठती हैं। वह वर्षों से भूले हुए गीत को गाना चाहती है, ताजी हवा में खुलकर हंसना चाहती है। महुए के उन मादक फूलों को, जिनके बारे में उसने आज तक सिर्फ सुना था, देखना चाहती है। वही लड़का उसे कहता है, 'यह जंगल आखिर जंगल है, टूरिस्ट गाइड की आंखों से देखा जा सकने वाला ताजमहल नहीं है।' स्त्री की खामोशी पराकाष्ठा पर पहुँचती है। दबी खामोशी ज्वालामुखी बन गई।...क्या कहने हैं तुम्हारी बहादुरी के!...स्काउट मास्टर बने फिरते हो न!...स्काउट मास्टर नहीं, सड़क छाप मदारी हो तुम!...बुजदिल और कमीने मदारी! लेकिन एक मदारी में भी गैरत तो होती है।'

पति में अपराध-बोध है। वह यह मानने को तैयार ही नहीं है कि लड़का जिंदा है। 'मैंने खुद अपनी आंखों से देखा था, वह नहीं था!...बाहर अंधेरा था, लेकिन मैंने अपनी इन्हीं हथेलियों पर महसूस की है, छत की मुंडेर से फिसलती उसके हाथों की पकड़, अपनी आंखों के सामने देखा है उसका वह डरा हुआ चेहरा, रोशनी के आखिरी कतरे को तरसती उसकी कांपती निगाहें, उसकी वह आखिरी दर्दनाक चीख!'

'रास्ते बंद हैं' नाटक जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र पर लिखा गया नाटक है। जन्म के बाद मृत्यु होगी, यह तो सभी जानते हैं। यह शाश्वत है, परंतु पुनर्जन्म होगा या नहीं कोई नहीं जानता है। केवल भ्रांति है। समय-समय पर इसका वर्णन अलग-अलग तरीके से सुना है। मृत्यु के पश्चात् मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार सजा भोगनी पड़ती है। यह बात मैं बचपन से सुनती आ रही हूं और शायद सभी ने यह बात सुनी होगी, लेकिन देखी नहीं। हकीकत क्या है, यह बताने वाला कोई नहीं रहता। 'मृत्यु' वह सच है, जिसका मनुष्य को केवल एक बार अनुभव होता है। जिसे वह कभी व्यक्त नहीं कर सकता।

दर्शन अध्यात्म पर कई नाटक लिखे गए, परंतु इस नाटक में अलग तरह का दर्शन देखने को मिलता है। नाटक के तीनों पात्र गडकरी, जोहरा और सुनंदा पूरी जिंदगी अपने तरीके से जीते हैं। उन्हें पूरे जीवन के अपने कर्मों में कुछ सही-गलत नहीं लगा। मृत्यु के पश्चात् उन्हें अपने किए गए गलत कर्म याद आते हैं। और उसकी सजा भोगने को तत्पर हैं। नाटक का पात्र अर्दली जो एक-एक कर इन सभी को एक कमरे में लेकर आता है। गडकरी उससे पूछता है—'वह सब तकलीफ पहुंचाने, तड़पाने का समान कहां है? वो तेल के कड़ाहे, वो तपती हुई सलाखें...वो सांप-बिच्छुओं के कुंड...' कमरे में बैठे तीनों पात्र सजा पाने को तैयार हैं। गडकरी जोहरा से कहता है, 'यहां हम दोनों हमसफर हैं, एक ही किश्ती के सवार, जिसे कहते...तो श्रीमती...मेरा मतलब है मिसेज...'

नाटक के सभी पात्र मरने के पश्चात् पृथ्वीलोक पर रह रहे लोगों की प्रतिक्रिया देखते और सुनते हैं। अपने आपको वहां मौजूद न रहने की विवशता से बेचैन हैं। मृत्यु के पश्चात् अपनी अधूरी इच्छा को पूरी न कर पाना और न होना, इन पात्रों में खीझ और बेचैनी को बढ़ाती है। 'अगर मैं बहादुरी से मौत का सामना करता हूं तो तय हो जाएगा कि मैं गद्दार नहीं हूं...मेरे कुछ उसूल हैं...' गडकरी ने अपने पूरे जीवन में अच्छे और बुरे सभी तरह के काम किए हैं। वह यह सोचकर कई बार परेशान होता है कि उसे मृत्यु के बाद भी शांति नहीं है। अंतर्द्वंद्व से परेशान है। वह अपने ऊपर लगे आरोपों का जवाब देने में असमर्थ है। वह उस कमरे से बाहर नहीं जा सकता। 'गडकरी आखिर गद्दार निकला। गडकरी गद्दार, उन्होंने फैसला कर लिया है...और छः महीनों के बाद तो वे शायद मेरे नाम के साथ बुजदिली की मिसाल दिया करेंगे...साले गद्दार गडकरी जैसा बुजदिल वे कहेंगे। तुम दोनों अच्छी रहीं, वहां नीचे कोई तुम्हारे बारे में सोचने वाला नहीं है। मेरी तो मरकर भी मिट्टी पलीद...'

नाटक के तीनों पात्र मरने के पश्चात् भी माया-मोह से घिरे हुए हैं। जोहरा देखकर परेशान है, 'एक आदमी मेरे बिस्तर पर है। मेरे बिस्तर पर समझे?...किराए पर चढ़ा दिया सालों ने खोली को।' सुनंदा हर वक्त अपने सौंदर्य को पुरुष के ऊपर हावी करना चाहती है। वह एक अदद आदमी की तलाश में रहती

है। 'अजीब झक्की आदमी हो। मैं यहां अपने होंठ, अपनी बांहें अपना समूचा जिस्म तुम्हें देने के लिए खड़ी हूं...लेकिन तुम्हें मेरा विश्वास चाहिए।'

तीनों ही पात्रों में पछतावा है। वे अपने जीवन में कहीं-न-कहीं अपनों को दुख देते रहे हैं, अब उन्हें पश्चाताप है। मृत्यु के पश्चात् चाहकर भी प्रायश्चित नहीं कर पा रहे हैं। गडकरी बोल रहा है, 'मेरे इंतजार में खाना लेकर बैठी रहती थी। दर्द में डूबी बड़ी-बड़ी आंखें...नहीं, मुझे किसी बात का अफसोस नहीं, अपने किए की सजा मुझे मिलनी ही थी और मैं उफ तक नहीं करूंगा...? कमरे में बंद रहना अपने आप में नरक है। समय के साथ नरक का सही अर्थ पता चलता है। गडकरी कहता है, 'मैं नरक में हूं, उन्होंने सब कुछ पहले ही से सोच रखा है।' 'तो यह है नरक कोई मुझे पहले बताता तो मैं कभी यकीन न करता। वे तेल के कड़ाहे, वे अंधेरे यातना-कक्ष, वे गर्दन से लटकती भारी-भरकम चक्कियां...सब मनगढंत कहानियां हैं। लोहे की तपती हुई सलाखों का यहां क्या काम?'

वस्तुतः ये दोनों ही नाटक अपने-अपने तरह के अनूठे हैं। दोनों नाटकों के पात्र मुंबई महानगर के हैं। सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं।

खिड़कियां और रास्ते/जितेंद्र भाटिया/संभावना प्रकाशन, रेवतीकुंड, हापुड़-245101, (उ.प्र.) मूल्य : ₹ 125

मार्फत श्री वाइ.एस. तोमर, 103, नीलकंठ पार्क, सेक्टर-6, प्लॉट नं.-18, खंडा कॉलोनी, न्यू पनवेल (वे), मुंबई-410206 मो. 09029564793

बाबर की औलाद

रणजीत साहा

''यह प्ले हम सबके लिए सम्माननीय, धर्मनिरपेक्ष और आधुनिक भारत की मिसाली धारणा पर नए सिरे से विचार करने का एक और मौक़ा फ़राहम करेगा। ज़बरदस्त चुनौतियों, मतभेदों और वैचारिक टकरावों और बहसों के बावजूद हम सब एक विशिष्ट, आधुनिक, लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष भारतीय संस्कृति की विरासत के न सिर्फ़ वारिस हैं, बल्कि मुस्तक़बिल में इसको और आगे बढ़ाने के लिए पूरी तरह तैयार भी रहेंगे, क्योंकि इसी पर हम सबका वजूद निर्भर है।'' (भूमिका, पृ. 25)

स्पष्ट है, सलमान खुर्शीद लिखित 294 पृष्ठों में फैला यह नाटक (प्ले) एक बहुत बड़ी रंग-योजना का प्रारूप है। यह सचमुच में एक 'मैग्नम ऑपस' है, क्योंकि यह नाटककार के नज़रिए (परसेप्सन) से ही नहीं, दर्शन (विज़न) से भी जुड़ा है और उद्देश्य (मिशन) से भी।

इस नाटक का विस्तार पूरे मुग़लिया दौर से लेकर वर्तमान समय, यानी हमारे समकाल तक का है। लेखक ने इसके माध्यम से एक सच्चे हिंदुस्तानी की शिनाख़्त या पहचान को उसकी ही परंपरा (गंगा-जमुनी परंपरा—साझी विरासत) में, उसकी निरंतरता में खोजने की कोशिश की है। बेशक उसका केंद्र बिंदु बहादुरशाह ज़फ़र है, लेकिन इस कोशिश में खुद बाबर की पहल शामिल है, जो हिंदुस्तान पर उसके फ़तहयाब हमलों के पहले से ही शुरू हो गई थी। दरअसल रामपुर पुस्तकालय में बाबर का जो दीवान है, वह बाद की कृति बताई जाती है, जो अहमद यादगार द्वारा लिखी गई थी और जो कई रचनाओं का संकलन है। वहां बताया गया है कि बाबर ने हिंदुस्तान की सरहद पर पहले भी तीन बार हमला किया था। 'तारीख़े सलातीने— अफ़ग़ाना' से पता चलता है कि कई कारणों से दौलत ख़ां इब्राहीम लोदी से बुरी तरह डरा-सहमा हुआ था। उसने अपने बेटे दिलावर ख़ां को काबुल भेजा, इस संदेशे के साथ, ''इबराहीम ज़ालिम, शैतान और अत्याचारी है। उसके सैनिक और सेनापति वग़ैरह सभी उससे नाराज़ और असंतुष्ट हैं।''

दिलावर ख़ां ऐसे वक़्त पर क़ाबुल पहुंचा, जब वहां कामरान के ब्याह की धूम थी। बाबर ने उससे मिलने पर पूछा, ''तुम्हारे ख़ानदान और घराने ने इतने सालों तक उसका नमक खाया है, तुम उसे क्यों छोड़ रहे हो?'' जवाब मिला, ''हम पिछले चालीस सालों से लोदी सल्तनत को खंभे की तरह थामे हुए हैं, लेकिन अब इब्राहीम सुल्तान सिकंदर के अमीरों से बुरे सलूक करता है। पचीस को तो उसने मरवा डाला है—किसी को फांसी पर लटकाकर तो किसी को ज़िंदा जलाकर। हम सब अमीर डरे हुए हैं। इसीलिए मुझे आपके पास भेजा गया है। हम आपका हुक्म मानने के लिए तैयार हैं।''[1] (1. 'बाबरनामा', एफ. जी. टैलबोट (अंग्रेज़ी से युगजीत नवलपुरी द्वारा हिन्दी में अनूदित) साहित्य अकादेमी, 1974, पृ. 57-60)

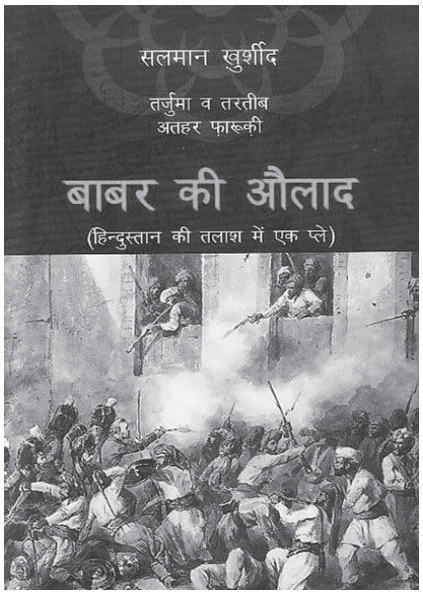

अगले दिन नमाज़ पर बाबर ने हिंदुस्तान को फ़तह के लिए दुआ की और कहा हिंदुस्तान की ख़ास चीज़ें पान और आम हैं—अगर वे मुझे भेंट में मिलती हैं तो मैं उसे शुभ शकुन मानूंगा। बाबर ने इसी साल हिंदुस्तान से केले मंगवाकर अदीनापुर (काबुल में अपने बाग़ेवफ़ा में रोपवाया था। दौलत ख़ां ने हिंद में लगे अधपके आम भेजे थे। जब वे बाबर के पेशेखिदमत किए गए तो वह बेहद खुश हुआ और हिंदुस्तान को फ़तह करने की तैयारी में लग गया। इस तैयारी को अंज़ाम देने में बुजुर्गवार अलाउद्दीन आलम ख़ां की सहायता का ज़िक्र मिलता है, जो इब्राहीम लोदी के ख़िलाफ़ शिकायत लेकर क़ाबुल पहुंचे थे।

नाटक की शुरुआत में नाटककार ने यह साफ़ कर दिया है कि यह नाटक अपनी पहचान खोजने से जुड़ा है और वह पहचान है, हमारा हिंदुस्तानी होना। वर्तमान समय में हमारे ऊपर धर्म इतनी बुरी तरह लाद दिया गया है, हम उससे ऊपर उठकर कुछ सोच नहीं सकते। आज के आज़ाद हिंदुस्तानी, जिनके पूर्वजों ने आज़ादी की पहली लड़ाई, जो 1857 ई. में लड़ी गई और जिसे गदर और सिपाही विद्रोह कहकर एक किनारे कर दिया गया, उस समय हिंदू-मुस्लिम सबने एक साथ मिलकर मुग़लों के आख़िरी बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र को अपना बादशाह माना और उनके नेतृत्व में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ कई मोर्चों पर लड़ाइयां लड़ीं। अफ़सोस, इसमें एकजुट प्रतिपक्ष बुरी तरह हारा, लेकिन हिंदुस्तान को दिलोजान से आज़ाद कराने की ख़्वाहिश धीरे-धीरे रंग

लाने लगी।

लेकिन इसी जगह हम इस आज़ाद भारत में आज़ादी के बासठ साल बाद भी आपस में ही लड़ रहे हैं, जिस पर लेखक की पैनी नज़र है और वह है हमारी समाजी संरचना, जो समन्वय और उदार मानवता पर टिकी है, लेकिन जिस पर लाद दिया गया है धर्म का वर्चस्व। लेखक ने नाटक के आख़िरी पन्ने तक उस 'वर्चस्व' के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ को बुलंद रखा है, हमें उसमें अपनी आवाज़ मिलानी है—यही इस 'प्ले' का संदेश है। अनुवादक ने इसी को ध्यान में रखकर इसकी भाषा का रूप उर्दूबहुल हिंदुस्तानी रखा है। भले ही वह अनुवादक का तर्क हो, इस बात से क़तई इत्तेफ़ाक़ नहीं रखा जा सकता कि ''एक मख़सूस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और सियासी बहसों वाले नाटक में बहादुरशाह ज़फ़र से सब्जी बेचने वालों या हिंदू राष्ट्रवाद के लिए आर.एस.एस. द्वारा तैयार की गई संस्कृतनिष्ठ हिंदी की पदावली प्रयोग नहीं कर सकता। इंग्लैंड में अगर कोई प्ले हिंदुस्तान में सब्जी बेचने वालों पर लिखा जाए तो भी उसमें ज़बान का मानदंड (पैमाना) उसके दर्शकों की समझ के मुताबिक ही होगा और उसमें सिफ़ वही ग़ैरमुल्की अलफाज़ इस्तेमाल किए जाएंगे, जो दर्शकों की सतह (स्तर) के होंगे। मुझे प्ले का प्रचलित या संस्कृतनिष्ठ हिंदी में तर्जुमा करने में कुछ मुश्किल न थी, मगर प्रकाशक का भी यही ख्याल (ख़याल) था कि भाषा का यह रूप इस प्ले की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से मेल नहीं खाएगा।'' (भूमिका, पृ. 26)

इसलिए इस नाटक में लिप्यंतरकार अतहर फ़ारूखी को क़तई मुतरज्जिम या अनुवादक माना नहीं जा सकता। बाहैसियत भाषांतरकार (या वाचांतरकार) वह एक जगह सियासी बहसों की बात करते हैं और दूसरी जगह प्रकाशक के इस आला ख़याल को तवज्जो देते हैं कि प्रचलित या संस्कृतनिष्ठ हिंदी में तर्जुमा करना इस 'प्ले' की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से मेल नहीं खाएगा। पहले तो यह ध्यान में रखना होगा कि इस प्ले की संरचना में इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बेहद अहम है। दूसरे, भारत की मिली-जुली या गंगा-जमुनी तहजीब इस प्ले का आधार नहीं, इसका ज़रूरी हिस्सा या संदेश (मैसेज) है। भारत की हर भाषा में, हर दौर को नाटकों या फ़िल्मों में उतारा गया है—चाहे वह महाभारतकालीन हो या पुराणकालीन या कि मुग़लकालीन। लोगों ने उन्हें खूब देखा या सराहा भी है। 'मुग़ले आज़म' (जिसका यहां हवाला दिया गया है—माफ़ कीजिएगा, ग़ैरज़रूरी उदाहरण या हवाला है) की फ़ारसीबहुल या उर्दूबहुल भाषा ने ही नहीं, उस फ़िल्म की बेहद खूबसूरत और कल्पनाशील विषयवस्तु, लेखन, अभिनय, गीत, नृत्य और भव्य दृश्य संयोजन में ज़बरदस्त इजाफ़ा किया था, जबकि 'बाबर की औलाद' की भाषा किताबी और 'इंटेलेक्चुअल' हो गई है। इसकी अंतर्वस्तु और निर्मिति बेहद गंभीर और बहसतलब ('इंटेलेक्चुअल कोलोकियम') है। यह उस मायने में 'मुग़ले आज़म' या 'हीर रांझा' (जिसका हवाला यहां ज़्यादा जरूरी लगता है) जैसा 'पॉपुलर' या रोमानी नहीं, जो सलीम और अनारकली या फिर हीर और रांझा के अफ़साने को, पूरी फ़ैंटेसी और 'एक्स्टेसी' के साथ सेल्युलाइड, पर उतार सकी और आज तक उन फ़िल्मों का जादू सिर चढ़कर बोलता है।

यह बात भी बहसतलब हो सकती है कि यह कृति नाटक विधा की कसौटी पर 'प्ले' है या कि नहीं, या फिर कई एक प्ले का मजमुआ है, जो मुग़लिया दौर की उन तमाम खूबियों और ख़ामियों को, जो आम हिंदुस्तानी के जेहन में पहले से भी संजोकर रखी गई हैं, उन्हें तरतीब देते हुए बड़े नाटकीय अंदाज़ में प्रस्तुत किया गया है। हालांकि लेखक के लिए आख़िरी मुग़ल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र की जलावतनी तक के वाक़ियात को बयान करना ही इस नाटक का उद्देश्य नहीं रहा है। वे इस प्ले को 2002 में गुजरात में धर्म के नाम पर हुए घिनौने नरसंहार यानी फ़ासीवाद के मुजाहिरे तक ले आए हैं, ताकि हिंदू राष्ट्रवाद के दामदार आईने से—हिंदुस्तानियत की धारणा को, उसके रोशन चेहरे को बचाया जा सके।

इस नाटक के मुख्य पात्र, जो बार-बार नाटक के कई दृश्यों में आते हैं, कभी-कभी इतिहास का हिस्सा भी बन जाते हैं—वे हैं, रुद्रांशु मित्र, सारा, आफ़ताब, प्रभात शर्मा और डॉक्टर दास। साथ ही, अंतिम मुग़ल बादशाह—खुद बहादुरशाह ज़फ़र। इनके अलावा अन्य कई पात्र, जो मुग़लकालीन भारत का अहम हिस्सा बन रहे। ऐसे भी, जो प्रतिपक्ष में खड़े रहे, उनके नाम हैं—

बाबर, हुमायूं, अकबर, जहांगीर, नूरजहां, शाहजहां, जहांआरा, औरंगज़ेब, मुहम्मद शरीफ़, हमीदा, बैरम ख़ां, मान सिंह, अबुल फ़ज़ल, बाबा (सूफ़ी), आसिफ़ ख़ां, एतमादुद्दौला, मुअतमिद ख़ां, वज़ीर, राजा जयसिंह, सूफ़ी (दरगाह पर) इनमें कुछ दरबारी भी हैं और कॉलेज के लड़के भी। इस तरह वह एक बड़े पैमाने पर खेला जाने वाला नाटक है, जो मुख्यतः दो स्तरों पर चलता है और हमारे अतीत और वर्तमान को मुग़लिया दौर के लंबे-चौड़े आईने में एक विमर्श (डिस्कॉर्स) का रूप देता है। यह नाटक इसीलिए दृश्य के मुक़ाबले श्रव्य या पाठ्य हो गया है, क्योंकि पात्रों से कहीं अधिक यह काल के अलग-अलग कालखंडों से संवाद है।

ऐसा सफल (और कभी-कभी असफल) प्रयोग कई बार किया गया है कि कोई नावेल या कहानी जब पाठकों में काफ़ी लोकप्रिय हो जाती है तो उसे नाटक के फ़ार्म में प्रस्तुत किया जाता है। हिंदी में प्रेमचंद के उपन्यासों (निर्मला, ग़बन, गोदान, कर्मभूमि, सेवा सदन) और कहानियों (कफ़न, सद्गति, शतरंज के खिलाड़ी आदि) को नाटक और फ़िल्म का जामा पहनाया गया है। 'महाभोज' (मन्नू भंडारी) 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल), 'रुदाली' (महाश्वेता देवी), 'प्रथम प्रतिश्रुति' (आशापूर्णा देवी) आदि सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं। इनके बरक्स इस नाटक को, एक और बड़े फ़लक पर इस नाटक के तमाम किरदारों को उनकी तारीख़ों के साथ एक अज़ीमुश्शान नावेल का रूप दिया जा सकता है। आख़िर विद्वान नाटककार सलमान खुर्शीद ने तमाम ऐतिहासिक सूचनाओं और तथ्यों को जुटाकर ही इस नाटक की रचना की होगी। यहां सैयद अतहर अब्बास रिज़वी द्वारा संपादित और अलीगढ़ विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग द्वारा प्रकाशित मुग़लकालीन भारत पर लिखी गई किताबों का उल्लेख किया जा सकता है। बाबर का 'बाबरनामा' और जहांगीर का 'जहांगीरनामा' भी हिंदी में उपलब्ध हैं। लेखक ने अपने इस प्ले से संबंधित आधार ग्रंथों का हवाला दिया होता तो शोधकर्ताओं की जानकारी में इज़ाफ़ा होता।

नाटककार ने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया है कि यह 'प्ले' अपनी परंपरागत पहचान

खोजने से संबंधित है, और वह है, हमारा हिंदुस्तानी होना। वर्तमान समय में हमारे ऊपर धर्म इतनी बुरी तरह लाद दिया गया है कि हम उससे ऊपर उठकर कुछ और सोच ही नहीं पाते। हम यह भूल जाते हैं कि इन सबसे ऊपर उठकर हम हिंदुस्तानी हैं। वही हिंदुस्तानी, जिनके पूर्वजों ने सन् 1857 में आज़ादी की पहली लड़ाई में एकजुट होकर अंग्रेज़ों से लोहा लिया था। तब सबने एक होकर बहादुरशाह ज़फर को अपना बादशाह माना और उनके नेतृत्व में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ाई लड़ी। अफ़सोस, उसमें अंग्रेज़ विरोधी पराजित हुए, लेकिन हिंदुस्तान को आज़ाद करने की ख़्वाहिश दिलोजान से भी धीरे-धीरे रंग लाने लगी। अंग्रेज़ अब यह अच्छी तरह समझ गए कि यदि हिंदुस्तान पर राज करना है तो हिंदू-मुस्लिम की एकता को तोड़ना होगा। इसलिए उन्होंने बेहद सोची-समझी रणनीति के तहत हिंदू-मुस्लिम के बीच फूट के बीज बो दिए। पहले उन्हें धर्म के आधार पर तथा बाद में भाषा के आधार पर बांट दिया। अंग्रेजों ने भारतीय समाज में सांप्रदायिकता का जो विष-बीज बोया, वह आज एक सघन वृक्ष के रूप में अपनी शाखाएं फैला चुका है। सांप्रदायिकता का घिनौना रूप हमें आज़ादी के पहले और बाद के मज़हबी दंगों में देखने को मिला, जहां हज़ारों-लाखों बेगुनाह लोगों को क़त्ल कर दिया गया। करोड़ों की संपत्ति नष्ट हो गई। यहां से जाने के पहले अंग्रेज हमें सांप्रदायिकता का ऐसा नासूर सौंप गए, जिसका प्रयोग कुछ राजनेता हमेशा करते रहे हैं। हम भी यह भूल जाते हैं कि अंग्रेज़ों के आने से पहले सांप्रदायिक दंगे नहीं हुए, क्यों? क्योंकि तब हम हिंदू या मुस्लिम नहीं, बल्कि हिंदुस्तानी थे।

यह नाटक 5 भागों और 29 उपभागों में बंटा है। इसका दायरा पूरी मुग़लिया सल्तनत से लेकर वर्तमान समय हमारे समय तक का है। इस 'प्ले' के माध्यम से लेखक ने एक हिंदुस्तानी की शिनाख़्त या पहचान की उसी की परंपरा, बल्कि उसकी निरंतरता में खोजने की कोशिश की है, जो आख़िरी मुग़ल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र के दौर तक तो अनवरत रूप से चलती चली आई। अनुवादक ने 'धन्यवाद ज्ञापन' में बताया है कि ''सलमान खुर्शीद ने 'बाबर की औलाद' के वाक्यांश का इस्तेमाल करके एक तरफ़ समकालीन फ़ासीवाद कुल्वतों की ज़ेहनी कैफ़ियत का विश्लेषण करने की कोशिश की है तो दूसरी तरफ़ बहादुरशाह ज़फ़र से मुतल्लिक अनेकों धारणाओं का जायज़ा भी लिया गया है।'' (पेज-xvii)

इस नाटक के अलग-अलग प्रसंगों में लेखक ने दिखाया है कि मुग़ल वंश के संस्थापक बाबर से लेकर आख़िरी मुग़ल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र तक—हर एक बादशाह ने भारत को अपना समझा और यहां की संस्कृति में रच-बस गए। उन्होंने हिंदुस्तान को एकजुट रखने की हरसंभव कोशिश की। एकता का यह प्रयास बाबर के समय से ही देखने को मिलता है। बाबर कहता है, ''हमारी भी ख़्वाहिश है कि हम अपनी बेगम को यहां के शानदार दरिया और आगरे के खूबसूरत बाग़ात दिखाएं (हुमायूं दाख़िल होता है), लेकिन सबसे पहले हम चाहते हैं कि शहज़ादे और अपने वली-अहद हुमायूं मिर्ज़ा को इन अजायबात का नज़ारा कराएं। आओ मेरे लख़्तेजिगर और हिंदुस्तान को अपने मज़बूत बाजुओं में संभाल लो कि अब यही तुम्हारा घर होगा, यही तुम्हारा क़िला होगा। आइंदा सदियों में हिंदुस्तान के शहंशाह, तैमूरे-आज़म का नाम रोशन करते रहेंगे। काबुल की सरसब्जी व शादाबी और गुलों की खुशग़वार महक ज़मीन पर जन्नतुल-फ़िरदौस से कम नहीं। मेरे नूरे-नज़र, यह जन्नते-अरज़ी वहीं ले आने का वादा करो।'' (पृ. 63)

ऐसे संवादों से पता चलता है कि संजीदा मुग़लों को शुरू से ही हिंदुस्तान की चिंता थी। इसलिए उन्होंने हमेशा हिंदुस्तान में शांति और एकता स्थापित करने की कोशिश की। आगे चलकर अकबर ने इस एकता को मज़बूत आधार प्रदान किया। उसने हिंदू-मुस्लिम के भेद को भूलकर हिंदुओं को शासन में उच्च स्थानों पर नियुक्त किया। उसने हिंदू-मुस्लिम में भेद न करते हुए सबको समान अवसर प्रदान किए। यही एकता आगे चलकर जहांगीर और शाहजहां के काल में भी दिखाई देती है। इतिहासकार औरंगज़ेब को एक कठोर और कट्टर मुसलमान साबित करते हैं, लेकिन लेखक ने दिखाया है कि उसे अपनी रिआया की सबसे ज़्यादा चिंता थी। जब औरंगज़ेब का वज़ीर औरंगज़ेब से आराम करने को कहता है तो औरंगज़ेब जवाब देता है, ''आराम? शहंशाह रहते हुए आराम? किसी शहंशाह को सुबुकदोशी जैसी सहूलत और आराम को अपने क़रीब नहीं आने देना चाहिए। एक शहंशाह की ज़िम्मेदारी यह है कि वह ख़तरात का मुक़ाबला करते हुए मौत की नींद सो जाए, इस तरह कि अपनी रिआया की हिफ़ाज़त के लिए तलवार उस वक़्त भी उसके हाथ में हो, जब उसे अबदी नींद आए। तुम हमें जिस्मानी सेहत का ख़्याल रखने का मशवरा दे रहे हो। खुदा-ए-बुजुर्ग व बरतर ने यह बादशाही हमारे ऐशो-आराम के लिए नहीं, बल्कि अपनी रिआया की खुशहाली के लिए तफ़वीज़ की है। एक शहंशाह को यह तवक्को नहीं रखनी चाहिए कि उसे कुछ फ़ायदा हासिल होगा। शहंशाह होने का असल फ़ायदा वह शोहरत है, जो उसके हिस्से में आती है।'' (पृ. 214) इसी तरह बहादुरशाह ज़फ़र को मरते दम तक यही चिंता रहती है कि वह भारत को अंग्रेज़ों की गुलामी से बचा नहीं पाए, क्योंकि उस समय के नवाबों और राजाओं ने उनका साथ नहीं दिया। उनके अनुसार, ''नहीं, अब किसी को हमारी परवाह नहीं। ख़िराज़े-तहसीन के एक या दो लफ्ज़ और बस। उस वक़्त भी किसी ने हमारी बात पर तवज्जह नहीं दी। हमने उस वक़्त के राजाओं, नवाबों, रईसों से अपील की थी कि जंग एक परचम के तले मुत्तहिद होकर लड़ी जाए, लेकिन किसी ने कान नहीं धरे। हम कौन थे? हम तो हिंदू और मुस्लिम दोनों के मफ़ादात के मुहाफ़िज़ थे, मगर फिरंगियों ने हिंदुस्तानियों को मज़हब के नाम पर बांटकर उसे मुस्लिम बग़ावत का नाम दे दिया, जबकि बाग़ी सिपाहियों में से ज़्यादातर हिंदू, बल्कि आला ज़ात के हिंदू थे। (पृ. 40-41) वास्तव में मुग़ल इस देश की संस्कृति में पूरी तरह रच-बस गए थे। इसीलिए सन् 1857 में जनता ने उन्हें अपना बादशाह माना और उनके नेतृत्व में अंग्रेजों से युद्ध लड़ा।

इस नाटक के सारे पात्रों के अंदर भी एक ऐसे हिंदुस्तान का सपना भरा है, जहां सबके सब हिंदुस्तानी होंगे, कोई हिंदू या मुस्लिम नहीं। सारा, जो कि ब्रिटेन में रहती है, भारत आकर पढ़ती है। रुद्रांशु उससे पूछता है, ब्रिटेन की बजाय वह भारत में क्यों पढ़ना चाह रही है, जबकि आज अधिकतर भारतीय विदेशों में पढ़ने के इच्छुक हैं। सारा बताती है कि वह भारत में रहकर यह महसूस करना चाहती है कि वह एक हिंदुस्तानी है।

अनुवादक ने हिंदी में इस प्ले का उर्दू से लिप्यंतरण करते हुए अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भरपूर प्रयोग किया है, जिससे पाठक को बार-बार पृष्ठ पलटकर उनके अर्थ देखने पड़ते हैं और इसे पढ़ने और समझने में बाधा उत्पन्न होती है। लिप्यंतरण करते समय उनकी लिपि नागरी कर दी गई है। होना यह चाहिए था कि प्रत्येक पृष्ठ पर नीचे फुटनोट के रूप में उन शब्दो का अर्थ दे दिया जाता, जिससे पाठक को आसानी रहती। हिंदी-उर्दू में शब्दों में व्याकरण के आधार पर कोई ज़्यादा अंतर नहीं होता। सिर्फ़ लिपि बदल देने से भी काम चल जाता है। वैसे इसकी भाषा सरल है। वाक्य छोटे-छोटे हैं। कहीं-कहीं हिंदी के आसान शब्दों का प्रयोग किया गया है। दृश्य माध्यम होने के कारण किसी भी नाटक की भाषा का सरल होना ज़रूरी है।

संवाद प्रधान नाटक के दृश्यों को दिखाने के लिए ज़्यादा बड़े मंच की ज़रूरत नहीं, बिना किसी ख़ास तकनीक के भी नाटक का मंचन किया जा सकता है। कहीं-कहीं संवाद लंबे हो गए हैं, जो बाधा पैदा करते हैं।

आज जिस तरह से भारत में उग्र राष्ट्रवाद, क्षेत्रवाद, सांप्रदायिकता, जातिवाद आदि हावी होते जा रहे हैं, ऐसे में इस तरह की रचनओं की आवश्यकता है। रुद्रांशु मित्र के शब्दों में ''मजहबी तनाज़ेआत अब मजाहिब के दरमियान नहीं है, बल्कि यह इक्तदार की जंग है, जो तहज़ीब और तमद्दुन की बालादस्ती के पर्दे में लड़ी जा रही है। हिंदुस्तान में अब वाक़ियतन किसी ख़ालिस हिंदू या मुस्लिम सकाफ़त का कोई वजूद नहीं है।'' (पृ. 289)

आज ज़रूरत है कि ऐसे प्रयासों को बढ़ावा दिया जाए। यह गांधी और नेहरू की 'भारत दृष्टि'—'भारत विज़न' ही है, जिसे एक ख़्वाब की तरह कभी मुग़लों ने देखा था और कोई भी नाटक बिना ख़्वाबो-ख़याल के मुकम्मल नहीं होता, यही उसकी फ़ितरत है।

बाबर की औलाद/सलमान खुर्शीद/तर्जुमा व तरतीब : अतहर फ़ारूकी/रूपा एंड कंपनी, 7/16, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 295 (सजिल्द)

भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, मो. 9811262257, E-mail : drsaharanjit@gmial.com

हंसबलाका और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

विजय शंकर मिश्र

'हंसबलाका' हिंदी की समृद्ध गद्य-परंपरा को समर्पित संस्मरण की उपयोगी पुस्तक है, जिसमें चालीस के दशक में लिखे गए संस्मरण ही ज्यादा हैं। परिवार, समाज और साहित्य का दस्तावेज है। बकौल आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री 'जब ये संस्मरण सन् '48 में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए, मेरे पास बड़े-बड़ों के ढेरों पत्र आए। बच्चन, मुक्त, नेपाली, आरसी आदि ने तो यहां तक लिखा कि फिलहाल मैं कविता-अविता लिखना बंद कर दूं, यह जीवन-स्मृति साहित्य की एक अनमोल निधि होगी।' (भूमिका)

लेखक जहां जब कभी किसी से प्रभावित होता है, उसको अपनी स्मृतियों का धारदार विषय बनाता है, फिर उसे कलमबद्ध करने का सार्थक प्रयास करता है। आचार्यश्री कहते हैं 'मैं अपने जीवन को आंशिक रूप में भी प्रेरित और प्रभावित करने वालों के संस्मरण ही लिखता रहा, जिसे फालतू करार देने के पहले दुबारा पढ़ने की तकलीफ गवारा करें। सब कुछ अपने ही जीवन के अनुभव से नहीं जाना जा सकता।' (भूमिका)

'हंसबलाका' न जीवनी है न आत्मकथा। 'जीवनी होती है सूरमाओं की जिनकी खांटी जिंदगी में नकली सुख-दुख की मिलावट नहीं होती, जिन्हें उतार-चढ़ाव की सर्दी-गर्मी शिकंजे में नहीं खिंचवाती। जो होते हैं अहद-शिकन कि जिनकी मस्ती पेशानी पर पड़ने वाली कोई शिकन सिकुड़न-सिलवट नहीं जानती।' आत्मकथा तो हम बिलकुल नहीं मानते, क्योंकि ओमप्रकाश सिंहल के शब्दों में 'जब कोई व्यक्ति अपनी जीवनी स्वयं लिखता है तब उसे आत्मकथा कहते हैं, किंतु अपने चरित्र का विश्लेषण करना सरल नहीं है, क्योंकि यदि लेखक अपने गुणों का वर्णन करता है तो आत्म-प्रशंसक कहलाता है, यदि दोषों का उल्लेख करता है तो यह भय बना रहता है कि कहीं श्रद्धालुजनों की श्रद्धा ही समाप्त न हो जाए और यदि वह अपने दोषों का उल्लेख नहीं करता है तो सच्चा आत्मकथा लेखक होने का अधिकारी नहीं है।' (हिंदी साहित्य का इतिहास, संपादक : डॉ. नगेंद्र, पृ. 595)

ज्ञात हो कि 'हंसबलाका' नाम लेखक का दिया हुआ नहीं है। डॉ. मारुति नंदन पाठक और बालकृष्ण उपाध्याय की संयुक्त सलाह की उपज है। शीर्षक देने की समझ एक बड़ी समझ है। बिना पढ़े, बिना मंथन किए दिया गया शीर्षक पाठक को प्रभावित नहीं कर सकता। आचार्यश्री ने स्वीकार किया होगा तो जरूर इसके पीछे कोई खास कारण रहा होगा। इस पुस्तक में कौन है जो हंस का चरित्र लेकर लेखक के सामने आता है और फिर बगुला-संस्कृति का प्रतीक कौन है, विचार करने का विषय है। संस्मरणों में गोता लगाने पर बात कुछ स्पष्ट होती है। भूमिका में इस पर लेखक लिखता है, ''राजहंसों की जो

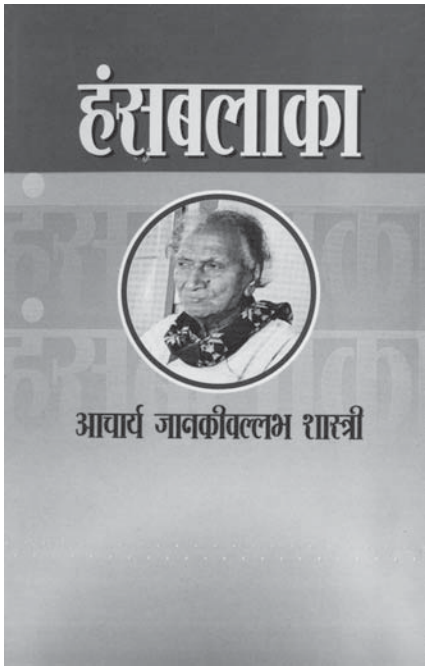

जमात कौतुकवश अपनी ऊंचाई से मेरे मानस पर उतरी उसे कमल-मधुपर्क और सुवर्ण-मृणाल सुलभ न हुए, क्योंकि वहां एकत्र तटस्थ बलाकाओं को अरविंद-मकरंद-गंध की तृषा न थी, वह जमा थीं पुण्य कमाने आविल को अच्छोर बनाने की निष्कंप अनुकंपा से, अतः कमलवन रौंद दिया गया था, किंजल्क पराग में सूख गया था, नाल-मृणाल अपनी ही कंटीली उलझनों में डूब-खो गए थे। हंसों की भी अभ्यर्थना न हो सकी, वह नीचे उतरे ही क्यों, उनके 'मानस'—मानस के विवेक को क्या हो गया था! ध्यानमग्न बलाकाएं हंसकिंकिणी सुनतीं?'

'हंसबलाका' पढ़ते शंभुनाथ की बातें याद आती हैं। उन्होंने लिखा है कि 'एक अच्छे लेखक की पुस्तक पढ़ना कुछ बिंदुओं पर टकराहट हो भी तो यह मुख्यतः किसी-न-किसी संदेह, कुछ-न-कुछ बचाने, पराजय और साहस के बीच पुल बनाने और एक-न-एक ऊंचे मानव-स्वप्न में साझा करना है। पुस्तकें अंधेरी जगहों को रोशनी में लाती हैं। वे हमारी मनोग्रंथियों और विफलताओं को खोलती हैं।' लेखक अपनी विचार-यात्रा में कई महत्त्वपूर्ण पड़ाव देखता है। सुख-दुख, हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन, ध्वंस-निर्माण—सबको संवेदना की आंखों से देखता है। हर्ष में अट्टहास और विषाद में चीख की कहानी नहीं है 'हंसबलाका'। इसमें भावना और कल्पना का मनोरम व्यापार भी नहीं। अनुभव और सत्य के निर्झर हैं।

'हंसबलाका' में पहला शीर्षक है 'बूड़ा वंश कबीर का'। लेखक इस खंड में अपने कुल-खानदान की खानदानी परंपरा, आस-पास की जिंदगी में समाई रूढ़ियां, रूढ़ियों के प्रति अपना व्यंग्य-विद्रोह, सामाजिक व्यवस्था और उसकी विडंबना, त्रासदी सबको साफगोई से रखता है। इस खंड को गांव का संस्मरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह स्वयं का भोगा-देखा यथार्थ नहीं। हां, यदि दूसरे का कहा हुआ लेखक के मन को छू जाए और लेखक अपने तरीके से सजाकर जनता के सामने परोसे और जनता उसे पसंद करे, मान ले तो संस्मरण कहने में हमें कोई गुरेज नहीं। मैगरा (जन्म-स्थली) का समाज बीसवीं शताब्दी के पहले-दूसरे दशक में कैसा था, इसका एक रूप हम देख सकते हैं 'आध्यात्मिक उपलब्धियों की पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ भारत भौतिक जीवन की ग्रामीणी सीमाओं में सिर्फ ज्यों-त्यों जिंदा रहने के लिए इस हद तक रूढ़िग्रस्त हो सकता है, किसी महानगर के आरामदेह कमरे में बैठकर वैज्ञानिक विकास का इतिहास पढ़ने वालों को सहसा विश्वास न होगा।' 'जल्दी-जल्दी मुझे चमारिन के हाथों बेचा गया, नाक छेदी गई और ढेर सारे टोटके किए गए, तब कहीं मैं चमारिन की अमानत की तरह पोसने-पालने के लिए मां को सौंप दिया गया।' यहां समाजवाद-साम्यवाद की व्याख्या और लेखक की उससे पूरी सहमति देखकर हम नहीं कह सकते कि लेखक का वास्तविक धर्म क्या था।

'मां' शीर्षक से लिखे गए संस्मरण में लेखक की करुणा देखकर भवभूति याद आ जाते हैं। चार-पांच बरस में मां चल बसीं। ममता का आंचल काल्पनिक ही सब दिन बना रहा। दूसरी तरह की मां थीं। पूजा-पाठ में विश्वास था। करुणा की वह साक्षात मूर्ति थीं। ठीक इसके विपरीत पिताश्री का स्वभाव था। बात-बात में गुस्सा और गाली उनके पांडित्य पर भारी पड़ती थी। दोनों के स्वभाव के बारे में आचार्यश्री लिखते हैं, 'मेरे पिताजी का क्रोध अपरिमेय है। वह क्षमा द्वारा उसे निरस्त करने में अक्षम हैं। दूसरी ओर उनसे अनन्य मेरी माताजी साक्षात सरलता तथा शांति थीं, इसलिए उन्हें बहुत सहना पड़ता था, फिर वह चाहे रोकर सहें अथवा हंसकर। वह अपने ही उच्च चरित्र से ऊपर उठी हुई थीं। बस, सदा शुष्क ईंधन के संधान में सजग अग्नि शर्मा से शंकित एवं आतंकित रहा करती थीं।' यहां 'अग्नि शर्मा' शब्द व्यंग्य-विद्रोहवाचक यथार्थ की परिणति है। अपने पिता के लिए यह शब्द-प्रयोग एक वेदांती पुत्र के मुख से विस्मयकारी है।

'अजंता की ओर' एक अद्भुत खंड है इस किताब में जिसमें लेखक अपनी पूरी जिम्मेदारी से इतिहास की जानकारी का प्रमाण देता है। तर्वे जब पूछती है कि अजंता की वास्तविकता से आप परिचित हैं कि नहीं, इसका उत्तर आचार्यश्री देते हुए कहते हैं, 'अजंता की पहाड़ों को काट-खोदकर बनाई हुई, गुफाएं लगभग बारह सौ वर्षों तक डकन के जंगलों में छिपी रहीं और तब कहीं सन् 1829 में अचानक प्रकट हुईं।' (पृष्ठ 277) और फिर आगे जिस तरह से बोलते गए कि कैसे 'सुप्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान पांचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत आया था और वह डकन के तत्कालीन महाराज पुलकेशी की सहायता से अजंता के दर्शन कर सका था।' फिर कैसे अजंता का पुनर्जन्म हुआ, कैसे ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन आया, फिर यह बताया कि कलात्मक गुफाओं का जन्म हिंदुस्तान में नहीं एसीरिया में हुआ, लेकिन परिपूर्णता यहीं प्राप्त हुई, फिर गांधार शैली के बारे में बताना, बुद्ध के जीवन और दर्शन के बारे में बताना आदि-आदि लेखक के इतिहास की जानकारी का पुष्ट प्रमाण ही तो है। एक साहित्यकार जब इतिहास लिखता है तो ऐसा ही लिखता है।

इसका यह मतलब तो नहीं कि लेखक साहित्य और समग्र जीवन के सौंदर्य की अभिव्यक्ति में इतिहास का ज्ञान एक अनिवार्य अंग मानता है; संस्मरण के सांचे में ढाला गया है, इसलिए इसे हम कोश ज्ञानमूलक संस्मरण कहना उचित समझते हैं। 'हंसबलाका' में वह दर्शन भी है जिसे तिरियाना ने 'जीवन की एक प्रणाली' मानते हुए लिखा है 'Philosphy is a way of life, not only of thoughts.' और लेखक भी इस बात से पूरी तरह सहमत है, जबकि इस तरह की सहमति न भी हो तो भी हमें उस चरम निष्कर्ष पर पहुंचाने की पूरी तैयारी लेखक में दिखती है। दार्शनिकता इस कृति की शर्त कदापि नहीं।

आचार्यश्री जो अपने बारे में कहना चाहते हैं, उसका अवसर तलाश लेते हैं। जैसे फिर-फिर वह अवसर न मिलने वाला हो। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के बारे में कहते हैं—'जीवन के केंद्र में मनुष्य को प्रतिष्ठित करना उनकी रचना का उद्देश्य है, वह मनुष्य न किसी वर्ग-विशेष का है, न संप्रदाय विशेष का, वह एक इकाई है। वह किसी राष्ट्र के घेरे नहीं घिरता, किसी वर्ण या आश्रम से बांधा नहीं जा सकता। वह स्वतंत्र है, समग्र है?' (पृष्ठ 367) आचार्यश्री का यह वक्तव्य स्वयं के साहित्य से भी संबद्ध है। इसे हम समीक्षा-संस्मरण का एक नया वैज्ञानिक प्रयोग मानते हैं।

आचार्यश्री ने अपनी डिग्रियों का हवाला देते हुए बाजाब्ता वर्ष की जानकारी दी है। 1927 में प्रथमा, 1932 में शास्त्र, 1934 में साहित्याचार्य, 1935 में साहित्यरत्न, 1940 में वेदांतशास्त्री और 1941 में वेदांताचार्य पास किया। इस बीच और-और कार्य भी करते रहे,

लेकिन उन सबके बारे में तिथियों का उल्लेख नहीं किया है। सबसे ज्यादा खटकने वाली बात तो यह है कि अपनी मां के निधन का भी ठोस समय नहीं दिया है। सिर्फ इतना लिखा है कि 'मैं चार बरस का हुआ नहीं कि वह चल बसीं।' भावनाओं की बाढ़ में ढहते इतिहास से जो मिल सका उसका उल्लेख किया है। और सच तो यह है कि आचार्यश्री गणित और भूगोल लिखने बैठे तो थे नहीं तो फिर हमारा प्रश्न सार्थक भी कैसे मान लिया जाए कि 'हंसबलाका' में आखिर लेखक ने तिथियों का उल्लेख क्यों नहीं किया। न शादी-ब्याह और न निधन के बारे में तारीख मालूम है।

और इसी पुस्तक में निराला के लिखे पत्रों का ऐतिहासिक उल्लेख है। निराला 9 सितंबर, 1935 को बनारस मिलने आए थे। इससे पूर्व धड़ाधड़ चार पत्र भेजे और उन चारों की तारीखें और विज्ञापित वर्ष हैं, जैसे पहला पत्र 13 जुलाई, 1935, दूसरा 30 जुलाई, 1935, तीसरा 14 अगस्त, 1935 और चौथा 5 सितंबर, 1935। मेरा तो मानना है, शायद चालीस के दशक में संस्मरण विधा का जन्म हुआ था जिसमें अप-टू-डेट जानकारी उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी। होती तो आचार्यश्री भी अपने पिताश्री से या मैगरा के बड़े-बुजुर्गों से जानकारी हासिल कर जरूर जिक्र करते। आज की तारीख में हम इस दृष्टि से लेखक की आलोचना करते हैं तो कितना सही कितना गलत हो सकता है, नहीं कहा जा सकता। बात सच तो है ही।

जिक्र है कि 1927 में आचार्यश्री की शादी हुई। 1928 में पहली बार काशी गए थे। दूसरी बार 1930 में गए थे और तीसरी बार 1932 में। अपने जन्मदिन पर कुछ उत्सव जैसा करने का एक सिलसिला काशी में ही शुरू हुआ, निराला ने जब जाना तो बहुत अनुशंसाएं और आशीर्वाद की अशर्फियां लुटाई थीं। आज हम उनकी पुण्यतिथि अंग्रेजी के हिसाब से 7 अप्रैल को मनाते हैं और जन्म-जयंती तो उनके समय से ही माघ शुक्ल द्वितीया को मनाते आ रहे हैं, जबकि वर्ष और तिथि (5 जनवरी, 1916) का उल्लेख 'हंसबलाका' में स्वयं उन्होंने किया है। इस पर विमर्श होना चाहिए कि आचार्यश्री परंपरावादी कितने थे और आधुनिक जीवन-शैली के पक्षधर कितने। समग्र संधान जरूरी है। सचमुच।

आचार्यश्री 'हंसबलाका' में अभिव्यक्ति की अकूत क्षमता से भरे दिखते हैं। विषय का प्रवाह बहाए लिए चलता है, लेकिन कहीं उससे कई गुणा ज्यादा उनकी भाषा चमत्कृत करती है। जिस कालखंड में ये संस्मरण लिखे गए उस समय तक सिर्फ दो किताबें प्रकाशित थीं—एक 'काकली' जो संस्कृत में है और गीत-रचना है और दूसरी हिंदी में 'रूप-अरूप'—यह भी एक गीत-पुस्तक है। गद्य में छिटपुट जो लिख रहे हों, पुस्तक के रूप में अभी तक कुछ नहीं आया था। गीतकार के रूप में जो प्रसिद्धि थी उस पर गद्य-लेखन भारी पड़ रहा था। जन-साधारण की भाषा नहीं है। कालिदास और भवभूति की परंपरा की भाषा है। गद्य में इस तरह का अनुप्रास-विकास और शब्द-संयोजन मिलना दुर्लभ है। 'हंसबलाका' में तो यह भी संकेत है कि वे कई भाषाएं जानते थे। 'सप्तपर्ण' निकालना चाहते थे।

कहना कठिन है, कैसे उनकी भाषा में एक साथ समीक्षा, दर्शन और आधुनिकता बोध— तीनों समाहित हैं, बानगी से हम समझ सकते हैं 'उच्चतर उपलब्धि के लिए आज अनुरूप जीवनदर्शन की खोज पहले के मुकाबले कहीं ज्यादा जोर-शोर से की जा रही है। हमारे श्रद्धालु पूर्वजों की दृष्टि, भौतिक विज्ञान पर ही केंद्रित न थी। सत्य का प्रकाश उन्हें भीतर की ओर खुलने वाली खिड़कियों से भी यथेष्ट प्राप्त हो जाता था। अब की बात और है। अब परंपराओं से जकड़ी हुई धर्म और संस्कृति की गांठें ढीली कर देने भर से नहीं चलने वाला है, उन्हें पूरी तरह खोलकर गर्म विचारों से आयरन कर संभव हो तो गर्म-गर्म छोटी-मोटी सिलवट तक मेट देनी होगी। वक्त का तकाजा है। आज का आदमी जिंदगी के बारे में सोचने- समझने की भरपूर आजादी चाहता है। जरूरत महसूस होने पर वह खुद तो नए सिद्धांत गढ़ लेगा, पर उसे किसी पुराने से समझौता करना मंजूर नहीं है। आधुनिकता- वादियों को निपट नए विचारों का आग्रह है, पुरातन प्रज्ञा के विश्वजनीन अवदानों का कतई नहीं।'' (फटा गगनपट कौन सिएगा? पृ. 344)

आचार्यश्री ने संस्कृत भाषा को 'ब्रह्मास्त्र' कहा है, क्योंकि इसी भाषा ने बहुतों बार बहुतों के सामने सम्मानित होने में मदद की। पूरी गीता कंठस्थ थी। बनारस में मालवीय जी किस तरह प्रसन्न और प्रभावित हुए थे, इसका बड़ा ही सरस और करुण संस्मरण इसमें है।

'हंसबलाका' में आलोचना की आलोचना हो न हो, आलोचक की आलोचना तो है ही। 'निराला दर्शन' में लिखते हैं, 'आचार्य शुक्ल को पाने के लिए कितनों को अपनी-अपनी कृति की प्रकृति के सर्वथा विपरीत प्रकृति-वर्णन में प्रवृत्त होते देखा था; नंगी आत्मनिष्ठता को लोकमंगल के आदर्श पर श्वेतांबरी प्रवचन करते सुना था। बला से ईमान के कान कट गए, उनके नाम तो इतिहास में दर्ज हो गए।' आचार्यश्री अपने तईं सच-सच और साफ-साफ कहने की कला जानते हैं। पूरी समझ और प्रमाण के साथ गुजरे पलों का अविकल चित्रण-वर्णन आज हमारे लिए प्रासंगिक हो गया है। वह व्यक्ति किसी भी विचारधारा का क्यों न हो, यदि उनके साथ जिए गए क्षणों ने प्रभावित किया है तो बिना पूर्वाग्रह के पूरी ईमानदारी से उस प्रसंग का जिक्र किया गया है। दिल्ली की एक गोष्ठी में आचार्यश्री का वक्तव्य और उनकी वक्तृता कला देखकर ख्यात आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने सूत्रवाक्य में अपने भाव का सूत्रपात करते हुए कहा था 'हाथी के पांव में सब पांव समा जाते हैं।' प्रतिभा प्रतिभा को पहचानती है, आदर करती है, यह इससे स्पष्ट होता है। किसी की प्रशंसा में भी वह रस नहीं मिलता जो आचार्यश्री की आलोचना में मिलता है। पारदर्शिता और भावुकता के साथ भाषा पर मजबूत पकड़ दिखती है। आचार्यश्री अपने जीवन में और अपनी रचना में वसंत और बरसात के सेतुबंध लेखक के रूप में चिरस्मरणीय हैं। कोई भी कृति मुकम्मल दोषमुक्त नहीं होती। आलोचना का धर्म पड़ताल करना होता है, बवाल खड़ा करना नहीं। सच को सच और झूठ को झूठ कहने की प्रामाणिक क्षमता चाहिए।

हंसबलाका/आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री/किताबघर प्रकाशन, 24/4855, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 675

द्वारा श्री देवेंद्र कुमार, भदई निवास, बालूघाट, ब्रह्मस्थान, मुजफ्फरपुर, (बिहार)-842001, मो. 9430460435

दरख्तों के साये में मधुकर गंगाधर

भारत यायावर

मधुकर गंगाधर छठे दशक में उभरने वाले एक तेजस्वी लेखक हैं, जो आज अस्सी वर्ष के होकर भी लगातार रचनारत हैं। उन्होंने कहानी, कविता, नाटक, उपन्यास आदि विधाओं की कई पुस्तकें लिखी हैं। 'दरख्तों के साये' उनके संस्मरणों की एक जीवंत पुस्तक है। इस पुस्तक की एक छोटी भूमिका विवेक मिश्र ने लिखी है। वे कहते हैं—(मधुकर गंगाधर) अपने जीवन के धूप-छांव भरे इस सफर में अपने समय की जिन महान् विभूतियों से मिले, जिन्होंने उनके जीवन को स्पर्श किया, या कहूं कि वह जिन छायादार दरख्तों के साये से गुजरे, उस सफर के तमाम किस्से इस संग्रह में शामिल किए गए हैं।

ये संस्मरण अतीत के ऐसे झरोखों को खोलते हैं जिससे हम कुछ ऐसे दृश्यों से रूबरू होते हैं, जो अगर गंगाधर नहीं कहते, तो शायद वे हमेशा-हमेशा के लिए अनकहे रह जाते। 'दरख्तों के साये' का पहला संस्मरण शिवपूजन सहाय पर है। शिवपूजन सहाय का चेहरा उनके पिताजी से मिलता था, इसलिए उन्हें पहली बार देखते ही वे आत्मीय श्रद्धा से भर उठे। शिवपूजन बाबू अजातशत्रु थे। सभी के साथ अपनेपन का व्यवहार करते थे। वे जितने शांत और गंभीर रहते थे, भाषा के व्यवहार में उतने ही प्रखर और तत्पर थे। वे जीवन भर संपादन करते रहे। मधुकर गंगाधर यह भी रेखांकित करते हैं कि शिवजी कभी महत्त्व के पीछे नहीं रहे। महत्त्व उनके पीछे रहा। उनके निर्देशन-काल में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने जो काम किया, वह स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण इतिहास है। पुस्तकों के प्रकाशन और मुद्रण पर जितना श्रम शिवजी करते थे, शायद ही किसी दूसरे हिंदी लेखक ने किया हो। पुस्तक अपनी हो या किसी दूसरे की, वे पूरी पुस्तक को आदि से अंत तक शुद्धीकरण की दृष्टि से पढ़ते थे। वे साहित्यिक गुटबाजी से दूर रहते थे। इसलिए, उनकी नजर में दिनकर जी भी महान थे और नलिन जी भी।

सुधांशु जी के विषय में मधुकर जी लिखते हैं कि हिंदी भाषा-साहित्य को जिन थोड़े लोगों ने बड़े छतनार वृक्ष का स्वरूप दिया, लक्ष्मीनारायण सुधांशु उनमें से एक थे। शायद बहुत कम लोगों को यह पता होगा कि दिनकर, द्विज, रेणु को उनकी साहित्यिक ऊंचाई दिलाने में सुधांशु जी ने 'अवंतिका' जैसी ऐतिहासिक महत्त्व की पत्रिका का संपादन भी किया था, जिसमें मधुकर जी की कहानियां छपकर चर्चित हुई थीं।

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' हिंदी के पहले लेखक थे, जिन्होंने प्रेमचंद के जीवन-काल में ही उन पर पुस्तक लिखी थी। वे कहानीकार एवं कवि के रूप में प्रसिद्ध थे। बाद में सुधांशु जी ने उन्हें पूर्णिया कॉलेज का प्राचार्य बना दिया, जहां उनकी प्रतिभा कुंद हो गई। मधुकर गंगाधर ने उनके प्राचार्य रहते ही पूर्णिया कॉलेज से स्नातक तक की पढ़ाई की थी। वे लिखते हैं—"द्विज जैसा तेज-तर्रार, काशी हिंदू विश्वविद्यालय से अंग्रेजी-हिंदी के एम. ए. प्रखर वक्ता, ख्यातिलब्ध साहित्यकार पूर्णिया कॉलेज में सड़ने क्यों आया, यह खुला रहस्य है।

मधुकर गंगाधर ने अनूप लाल मंडल पर भी संस्मरण लिखा है। अनूप जी के उपन्यास उस जमाने में इतने लोकप्रिय थे कि उन्हें बिहार का प्रेमचंद कहा जाता था। मधुकर जी का यह मानना बिल्कुल सही है कि अनूप जी उस युग की पैदावार थे, जब लेखन व्यवसाय नहीं, व्रत हुआ करता था, साहित्य-रचना देश-सेवा जैसा काम समझा जाता था।

दिनकर जी पर लिखा संस्मरण बेहद दिलचस्प है। यहां मधुकर जी की कुछ बातें नमूने के तौर पर रखी जा रही हैं—काव्य-पाठ के समय दिनकर जी का अहम चरम पर होता था। वे चाहते थे, मंच पर वे सबसे पृथक, सबसे ऊंचे गिने जाएं। लंबा, गौरपूर्ण शरीर। सजे-संवरे बाल। कीमती कपड़े। मेघ-गर्जन-सी आवाज। यह सब उन्हें अनायास ही सबसे अलग करता था।

मधुकर गंगाधर के आदर्श सतीनाथ भादुड़ी थे। उनके साहित्य ने उन्हें पूर्णिया के अनेक चरित्र, घटनाओं एवं प्रतिक्रियाओं के प्रति आत्मीयता का बोध कराया। मधुकर जी ने बाद में भादुड़ी जी के उपन्यास 'ढ़ोंढ़ाईचरितमानस' का बांग्ला से हिन्दी में अनुवाद भी किया।

नलिन विलोचन शर्मा भव्य व्यक्तित्व के स्वामी थे। भारी-भरकम काया, शांत-गंभीर। मितभाषी। बहु पठित। प्रयोगशील और भाववादी। उन पर लिखा संस्मरण बहुत रोचक और आत्मीय है। इसके अंत में वे लिखते हैं—नलिन विलोचन शर्मा ने हिंदी साहित्यकारों के मस्तक को नई चेतना और आधुनिकता-बोध से संस्कारित किया। मुझे गौरव है कि मैं ऐसे गुरु का शिष्य रहा।

मधुकर गंगाधर ने इस संग्रह में महादेवी वर्मा, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, उपेंद्रनाथ अश्क, मार्कंडेय, मार्कंडेय प्रवासी, कमलेश्वर, चतुर्भुज, राजेंद्र अवस्थी, दिनेश प्रसाद सिंह, राजकमल चौधरी और कुशेश्वर व्यथित पर भी संस्मरण लिखे हैं, जिनमें एक विशेष प्रकार की ताजगी है। पर इन सभी संस्मरणों में सबसे रोचक है फणीश्वरनाथ रेणु पर लिखा उनका संस्मरण। ज्ञातव्य है कि रेणु पूर्णियां अंचल के रग-रेशे से संपृक्त कथाकार थे। उसी अंचल में रेणु के बाद दूसरी प्रतिभा का उदय हुआ—मधुकर गंगाधर। मधुकर जी रेणु को 'भैय्या' कहकर बुलाते थे और अपने सगे बड़े भाई की तरह मानते थे। पर साहित्यिक रूप में उनकी प्रतिद्वंद्विता भी उनसे थी। जब जनवरी, 1958 में मधुकर जी का पहला कहानी-संग्रह 'तीन रंग : तेरह चित्र' पराग प्रकाशन, पटना से छपा तो उसकी भूमिका में उन्होंने रेणु का कृतज्ञता-ज्ञापन इन शब्दों में किया—''ग्राम-केंद्रिक कहानियां लिखने की प्रेरणाओं में फणीश्वरनाथ रेणु भी एक हैं। जिन्होंने, शहरी-टेबुल पर, विभाषीय हस्तलाघव द्वारा, वेश्या और विकलांग संस्कृति की कथा-मूर्ति रची और पूर्णियां का लेबुल चिपका, फिल्मी-पोस्टरबाजी...व्यावसायिक धूम-धड़ाकों से पूर्णियां का नाम उजागर किया। इस रोमांसप्रिय कथाकार ने लहलहाते खेत, परती-परात, टट्टी के घर, साग और सकरकंद के रिपोर्ताज तो सहृदय बनाकर प्रस्तुत किए, किंतु जब कभी आदमी की कहानी कहने का प्रयास किया, टोन जरूरत से ज्यादा स्टायरिक हो गया और रस्टिक की खुरदरी जिंदगी की चरम कला-बिंदु पाने के बजाय यौन-लिप्सा, अपभ्रंश प्रवृत्ति और बाल-भावुकता इन्हें हाथ लगी। एमेच्योर टूरिस्ट के विहंगम सर्वेक्षण के सहारे पट-भूमि की संश्लिष्ट सर्जनाओं के पुनर्प्रस्तुतन का इनका आयोजन रसोत्सव न होकर, 'रसलिल्ला' होकर रह गया। कला और संस्कृति के तकाजे पर जन्मभूमि के उन्हीं परिवेशों और जिंदगी पर लिखी जा रही अपनी ग्राम-केंद्रिक कहानियों में से कुछ कहानियां यहां प्रस्तुत करते हुए, मैं श्री रेणु का कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूं।'

रेणु ने जब यह पढ़ा तो मधुकर गंगाधर के प्रति उनको क्षोभ नहीं हुआ। उन्होंने मधुकर जी से इतना भर कहा—''तुमने अपनी पुस्तक की भूमिका में मेरे बारे में यह सब क्यों लिखा? लिखना ही था, किसी अखबार-पत्रिका में लिखते। पुस्तक तो सौ-पचास वर्ष रहने वाली चीज है।''

मधुकर जी रेणु से बहुत लगाव रखते थे, लेकिन दूसरी तरफ उनके मन में रेणु के साहित्य का आतंक भी था, जिससे जूझने के लिए वे निरंतर वैचारिक संघर्ष करते रहते थे। 'आलोचना' के जनवरी, 1966 (संपादक : शिवदान सिंह चौहान) में उनका एक निबंध प्रकाशित हुआ 'हिंदी में आंचलिक उपन्यास'। इस निबंध में उन्होंने 'मैला आंचल' को 'ढ़ोढ़ाईचरितमानस' का कार्बन-कॉपी बताया है। रेणु की इतनी तीखी आलोचना करने के बाद भी रेणु उन्हें बड़े भाई की तरह व्यक्तिगत जीवन में स्नेह करते रहे, यह रेणु के विशाल हृदय का परिचायक है। साहित्य में कौन बचेगा और कौन मिटेगा—इसका निर्णय तो समय ही करता है और समय ने यह प्रमाणित कर दिया है कि रेणु कालजयी कथाकार थे।

मधुकर गंगाधर ने जिन 'दरख्तों के साये' में अपना लंबा समय गुजारा है, वे कब के इस धराधाम से विदा ले चुके हैं, किंतु उनकी स्मृतियों के सहारे उनके व्यक्तित्व को आज भी जाना जा सकता है एवं उनकी वाणी को सुना जा सकता है।

दरख्तों के साये/मधुकर गंगाधर/**शब्दसृष्टि**, एस-658ए, गली नं. 7, स्कूल ब्लॉक (निकट शीतला माता मंदिर), शकरपुर, दिल्ली-110092/ मूल्य : ₹ 250

यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट, हजारीबाग-825301 (झारखंड), मो. 09835312665
E-mail : bharatyayawar@yahoo.com

अब किसी शहर की बुनियाद ना डाली जाए

इक़बाल रिज़वी

शहर की दशा और दिशा जानने के लिए इतिहास की किताबों से सिवा और क्या रास्ता हो सकता है। इस सवाल का जवाब युवा लेखक मिहिर पांड्या ने दिया है कि शहरों को सिनेमा के जरिए भी तो समझा जा सकता है। उनके उत्तर का विस्तार उनकी पुस्तक 'शहर और सिनेमा वाया दिल्ली' में मिलता है।

अपनी पुस्तक के शुरुआती अध्याय में लेखक इस बात का उल्लेख कर देता है कि आजादी केस मय गांव और शहर का द्वंद्व तीखा नहीं था, उस समय तक जहां गांव पिछड़ेपन के प्रतीक थे, वहीं शहर बदलाव के केंद्र के रूप में देखे जा रहे थे। हिंदुस्तानी सिनेमा के शुरुआती दौर में शहर बदलाव का केंद्र और उम्मीद की किरन बनकर उभरे थे। किसानों और मजदूरों का गांव से शहर की ओर पलायन एक बेहतर जिंदगी के सपने की शुरुआत हुआ करती थी। दो बीघा जमीन का शम्भू महतो और श्री 420 का राजू इसकी मिसाल है। तब शहर कठोर हुआ करते थे, लेकिन इतने क्रूर और स्याह नहीं हुए थे, जितने कि आज हो चुके हैं।

पचास के दशक के हिंदी सिनेमा में शहरों को केंद्र में 'अब दिल्ली दूर नहीं' जैसी फिल्म बनती है, जिसमें कहानी का नायक न्याय हासिल करने अपने गांव से चलकर दिल्ली आता है और खुद प्रधानमंत्री उसकी बात सुनते हैं, लेकिन इसी दशक में 'जागते रहो' जैसी फिल्म भी बनती है, जिसमें कोलकाता शहर गांव से आए एक शख्स को प्यास लगने पर पूरी रात दर-दर भटकने पर मजबूर कर देता है, लेकिन तब के शहरों में उम्मीद मरी नहीं थी। प्यासे नायक को अंत में पानी पिलाने नायिका आ ही जाती है। इसी शहर को केंद्र में रखकर विमल राय इसी दशक में 'दो बीघा जमीन' बनाकर शहरों की यंत्रवत्ता को मार्मिक रूप में सामने लाते हैं।

लेकिन जैसे-जैसे समय गुजरता जाता है, आधुनिकता की होड़ में परिस्थितियों तेजी से बदलने लगती हैं। हालांकि सिनेमा में आदर्शवादी नजरिए का प्रभाव साठ के दशक तक दिखाई देता है 'नया दौर' जैसा फिल्में बनती हैं, लेकिन पचास से सत्तर का दशक आते-आते शहर नायक से खलनायक के रूप में तब्दील होने लगता है। क्योंकि सत्तर का दशक आते-आते देश के युवा वर्ग में आकांक्षाओं की जगह असंतोष घर करने लगता है। उम्मीदें पूरी नहीं होतीं और कानून असरदार वर्ग के हितों को ही साधता नजर आता है। इस दशक में हिंदी सिनेमा नया रूप लेता है, सुविधा के लिए ये दशक अमिताभ के दशक के रूप में भी याद किया जा सकता है, इस दौर में शहरों को केंद्र में रखकर बनाई गई फिल्मों में साफ नजर आता है कि हिंसा अब शहरों को महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गई है। विकास का नेहरूवादी स्वप्न दम तोड़ रहा है, आदर्श और नैतिकता की बहस असर खोती जा रही है और शहर की संरचना में अवैध सत्ता की जड़ें गहरा गई हैं। 'ज़ंजीर' और 'दीवार' सत्तर के दशक में शहरों के नए अंधेरों, क्रूरता और निर्ममता को दर्शाने वाली उल्लेखनीय फ़िल्में हैं।

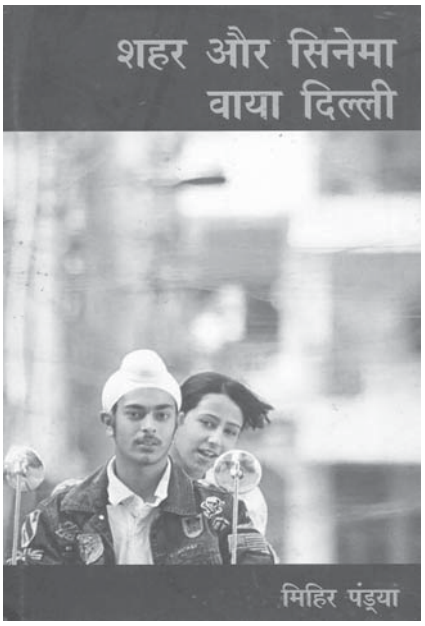

उस दशक में अवैध सत्ता का समाज में बढ़ता प्रभाव लोकप्रिय और समांतर सिनेमा दोनों में देखा जा सकता है। शहरी परिरदृश्य मे स्मग्लरों, जमाखारों, बिल्डर माफिया और भ्रष्ट हो चुके सत्ता तंत्र को केंद्र में रखकर कई फिल्में बनीं। इन मुद्दों पर जब सिनेमा के सहारे व्यंगात्मक चोट की गई तो परिणामस्वरूप कुंदरशाह की चर्चित फिल्म 'जाने भी दो यारों' अस्तित्व में आई। सच तो यह है कि मिहिर पांड्या की पुस्तक पढ़ने के बाद शहरों को देखने का नया नजरिया सामने आता है।

अस्सी का दशक सत्ता के अमानवीय चेहरे और एक तीखे मोहभंग का समय है। यही हिंदी सिनेमा में समांतर सिनेमा आंदोलन के उठान का भी समय है। इस दशक तक रोजगार की तलाश में कस्बों ओर गांवों से शहरों में पलायन की रफ्तार बेहद तेज हो चुकी थी। इस दशक में बनी कई फिल्में एहसास कराती हैं कि तब के नौजवान और बौद्धिक वर्ग का व्यवस्था से किस कदर तीखा मोह भंग होता जा रहा था। अपराधियों की सत्ता से मजबूत सांठ-गांठ ो ना सिर्फ आम आदमी महसूस करने लगा था। बल्कि खुद व्यवस्था को लागू करने वाले ईमानदार लोगों का क्या हश्र हो रहा था। गोविंद निहलानी की अर्धसत्य (1983) इस तथ्य को बेहद शिद्दत के साथ सामने लाती है। इसी कड़ी की एक और महत्त्वपूर्ण फिल्म 'न्यू देहली टाइम्स' (1986) है।

आलोचक मदनगोपाल सिंह के वक्तव्य के सहारे मिहिर पांड्या बताते हैं कि तेजाब (1988) और परिंदा (1989) जैसी फिल्में उस दौर का आईना हैं। अब शहरी खलनायक बॉस के प्रती कबन चुके अजीत का दौर खात्मे

पर नजर आता है, उनकी जगह अंडरवर्ल्ड पर बनी फिल्मों को दौर शुरू होता है, इन फिल्मों के खलनायक अधिक यथार्थवादी खूंखार, सनकी और क्रूर होते हैं। इस दौर की फिल्मों में एक और खास बात नजर आती है, वो है सत्ता की अपराध जगत से सीधी सांठ-गांठ और अपराधियों का सत्ताधारियों में बदलना। शहरों की ऐसी ही हालत को देखकर शायर अहमद फराज ने लिखा था, ''बढ़ते-बढ़ते यही ज़िंदा में बदल जाते हैं—अब किसी शहर की बुनियाद ना डाली जाए।''

भारतीय शहरों में बिना शक दिल्ली का मुकाम सबसे अलग है। भारत के पहले आधुनिक शहर कोलकाता, आर्थिक राजधानी मुंबई ओर सिलिकॉन सिआी बेंगलूरु से अलग दिल्ली देश की सत्ता का केंद्र है। ये शहर फिल्मकारों को आकर्षित भी करता है। ब्लैक एंड व्हाइट दौर की अब दिल्ली दूर नहीं से लेकर खोसला का घोंसला, दिल्ली-6 और डेल्ही बेली तक करीब 16 ऐसी फिल्मों का विस्तृत उल्लेख लेखक ने किया है, जो दिल्ली शहर को केंद्र में रखकर बनाई गईं और आजादी के बाद की बदलती दिल्ली को इन फिल्मों के जरिए बखबूी समझा जा सकता है, इसके अलावा किताब में 60 से अधिक उन फिल्मों का जिक्र भी किया गया है, जिन फिल्मों में किसी-न-किसी रूप में दिल्ली को केंद्रित किया या दर्शाया गया है।

हालांकि इससे पहले 1997 में सविता भाखड़ी और आदित्य अवस्थी ने एक पुस्तक 'हिंदी सिनेमा और दिल्ली' लिखी थी, मगर उस पुस्तक में दिल्ली के सिनेमाघरों के इतिहास की मार्फत वहां के सिनेमा दर्शकों कीपसंद ना पसंद का उल्लेख किया गया है, लेकिन फिल्मों के जरिए किसी शहर के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बदलाव की पड़ताल करने का अपनी तरह का यह अनोखा और पहला प्रयास है, जो काफी दिलचस्प बन पड़ा है।

शहर और सिनेमा वाया दिल्ली/मिहिर पंड्या/वाणी प्रकाशन, 4695, 21ए, दरियागंज, दयानंद मार्ग, दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 495

जीएफ-2, प्लाट नं.-3, वैशाली, गाजियाबाद-201010
फोन-9871697241

साहित्य और कलाओं की अंतर्संबंधता

मनोज मोहन

देखने का कोई एक ही ढंग नहीं होता—न जीवन में, न कलाओं में। दरअसल यही स्थिति बहुत-सी कला आलोचना को जन्म देती रही है और आगे भी देगी। हां, 'देखने' के रूप, आधुनिक काल तक आकर जिस हद तक 'व्यवस्थित' हुए हैं, अथवा उसका अपना महत्त्व है। देखने के ढंग में रचनागत सरोकारों से लेकर, वैचारिक और सामाजिक सरोकारों को, जिस तरह शामिल किया गया है, वह महत्त्वपूर्ण है। (प्रयाग शुक्ल : 'देखना' की भूमिका से)

ललित कला अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'कला और कविता' पुस्तक हिंदी कवियों द्वारा कला, कलाकृति और कलाकारों से लेकर देशभर के सांस्कृतिक धरोहरों पर लिखी कविताओं का एक संग्रह है। 'कल्पना' पत्रिका के उप-संपादक के रूप में अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत करने वाले प्रयाग शुक्ल को शुरू में ही बदरी विशाल पित्ती जैसा कला-अनुरागी और एम. एफ. हुसेन जैसे चित्रकार का संग-साथ मिला। फिर अज्ञेय और रघुवीर सहाय जैसे साहित्यिक और रुचि संपन्न संपादकों के साथ कला-विषयक उनका लेखन परवान चढ़ता गया। और इस कारण आज बहत्तर वर्ष की उम्र में भी भरपूर उत्साह और ऊर्जा के साथ 'कला और कविता' संग्रह का संपादन वे सहजता के साथ कर पाते हैं। उनके संपादकीय की ये पंक्तियां इस संग्रह के निकालने के उद्देश्य को स्पष्ट कर देती हैं—'कला पर इतनी कविताएं! सच पूछें तो ऐसा विस्मय, किसी विषय केंद्रित संकलन के सिलसिले में उभरना यों भी सहज स्वाभाविक है। और ऐसे संकलनों की एक विशेषता/अनिवार्यता तो यह भी होती (ही) है कि वे किसी थीम-या क्षेत्र के प्रसंग से लिखी गयी कविताओं पर कुछ फोकस कर पाते हैं।'

इस संग्रह में कई पीढ़ियों के कवि शामिल हैं—अज्ञेय से लेकर अमित कल्ला तक, प्रभाकर माचवे से लेकर पवन करण जैसे युवा कवि तक। एक समय में गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था 'अपनी पांचों इंद्रियों को भी हम संवेदनशील रखने में सक्षम हैं तो हम सृष्टि की सभी हरकतों को जानने-समझने में भी सक्षम होंगे।' ठीक उसी तरह कला और साहित्य के बीच के संबंध की संवेदनशीलता को बचाए रखने की जरूरत है। और इस संग्रह में शामिल सभी कवियों ने कला के प्रति अपने अनुराग को दर्शाने का सफल प्रयास किया है। संग्रह की अधिकतर कविताएं आधुनिक कला और कलाकारों को लेकर हैं। साथ ही कुछ कविताएं हमारे सांस्कृतिक धरोहरों जैसे खजुराहो, कोणार्क, महाबलिपुरम, भीमबेटका, सांची, भुवनेश्वर और मध्यकालीन कलमों को लेकर है। कलाकारों में कवियों के बीच सबसे लोकप्रिय चित्रकार स्वामीनाथन हैं। स्वामीनाथन के व्यक्तित्व और कृतित्व पर अशोक वाजपेयी, उदयन वाजपेयी, कमलेश, चम्पा वैद, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और विष्णु

खरे जैसे कवियों ने अपनी कविताएं लिखी हैं। स्वामीनाथन को लेकर क्रमशः सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और कमलेश की इन पंक्तियों पर ध्यान जाता है—

'चमक है पसीने की
कसी हुई मांसपेशियों पर।
चमक है ख्वाबों की
तनी हुई भृकुटि पर।'

और

'इस धरती पर आकाश
इतना ही भरा-पूरा हो
उड़ती शिलाओं से।
इतना ही हो भरा-पूरा,
शांत, पक्षियों के कलरव से,
यह आकाश भरा-पूरा हो ईश्वर से,
यह धरती इसी तरह
ईश्वरीय हो जाये।'

स्वामीनाथन के अतिरिक्त कवियों के बीच लोकप्रिय (क्रमशः घटते क्रम) रामकुमार, हुसेन, सैयद हैदर रजा, अमृता शरेगिल, हिम्मत शाह, सिद्धार्थ और अंबादास जैसे चित्रकार हैं। युवा कवि पवन करण की कविता 'हुसेन के घोड़े' की ये पंक्तियां उनकी कमी का अहसास करा जाती हैं—

'कैनवस पर भले ही
वे दौड़ रहे हों
मगर उस दौड़ में
उनकी आत्मा
शामिल नहीं हैं
हुसेन के घोड़े उदास हैं।'

रामकुमार के चित्रों पर श्रीकांत वर्मा की कविता उनकी अमूर्तता को पूरी तरह उभार देती है—

'छायाएं
न हिलतीं,
न डुलतीं, न मिलतीं,
एक-दूसरे की उदासी में घुलतीं
केवल
खड़ी हैं।'

प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर 'खजुराहो' को लेकर वरिष्ठ कवि गिरिजा कुमार माथुर, कुंवर नारायण, कैलाश वाजपेयी, हरिवंश राय बच्चन से लेकर स्नेहमयी चौधरी, अनिल कुमार और विजय शंकर ने कविताएं लिखी हैं। स्नेहमयी चौधरी 'खजुराहो की मूर्तियां' शीर्षक कविता में जहां लिखती हैं—

'अचानक
समय मुझे घसीट ले जाता है
और पटक देता है ले जाकर
उस पृष्ठ पर
जहां अतीत एक रंगीन मोहजाल-सा
लगता है।'

वहीं विजयशंकर के 'खजुराहो' की इन पंक्तियों में एक दूसरा दृश्य उभरता है—

'कई वर्षों बाद
आने वाले शब्दों को
स्मृतियों को
पत्थरों पर उकेरी गईं
आकृतियों से सिंचित किया जा सके
इस तरह पत्थरों पर लिखी
यह प्रणति है।'

अमृता शेरगिल का इस दुनिया से असमय जाना राजकमल चौधरी को जहां उदास करता है, वहीं राजेंद्र उपाध्याय 'अमृता शेरगिल के चित्रों को देखते हुए' लंबे शीर्षक वाली कविता में बरबस कह उठते हैं—

'मैं देख रहा था अनावृत्त देह उसकी
औरत की खूबसूरती का आखिर कोई
क्या अंदाजा लगा सकता है
चाहे वह कपड़ों में हो
या बगैर कपड़ों के।'

लेकिन इन पंक्तियों से स्पष्ट नहीं होता कि आखिर कवि कहना क्या चाहता है। भारतीय उपमहाद्वीप से बाहर वानगॉग और पिकासो कवियों के विशेष प्रिय हैं। अनीता वर्मा की 'वानगॉग के अंतिम आत्मचित्र से बातचीत' की ये पंक्तियां इस संग्रह की सुंदरतम पंक्तियों में हैं—

'समय तब भी तारों की तरह बिखरा
हुआ था
इस नरक में भी नृत्य करती रही मेरी
आत्मा
फसल काटने की मशीन की तरह
मैं काटता रहा दुख की फसल
आत्मा भी एक रंग है।'

कला और कविता के अंतर्संबंध को आगे बढ़ाते इस संग्रह में कवियों का अता-पता का न होना, अफरातफरी में सूची में अकारादि क्रम का भंग होना और शब्दों के परिवर्तन का कारण स्पष्ट न होना, समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यूंकर हुआ। केदारनाथ सिंह की 'भीम बेटका' विनोद कुमार शुक्ल की कविता तक 'भीम बैठका' हो जाता है। ये कमियां इस संग्रह की खूबसूरती को कम करती हैं।

गैर पारंपरिक ढंग से इस समीक्षा के अंत में उदयन वाजपेयी की कविता 'सिद्धार्थ के चित्रों के प्रति' इन पंक्तियों को पाठक

पढ़ें, गुनें और समझें। इत्यलम्।

'पीड़ा के बीजों को
अनवरत स्वप्न की
फुहारें ढंक रही हैं
बुद्ध अपनी दिव्यता में सोये हैं
हम जागे हुए हैं
अपने चकाचौंध अज्ञान में।

कला और कविता/प्रयाग शुक्ल/डॉ. सुधाकर शर्मा, सचिव, ललित कला अकादेमी, रवींद्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-110001/मूल्य : ₹ 350

एल.पी.-61/बी., पीतमपुरा, दिल्ली-110034,
मो. 09868664457,
ई-मेल : manojmohan2010@yahoo.com

उत्तर-पूर्व : विचित्र देश की सचित्र यात्रा या पूर्वोत्तर का पक्ष

प्रेमपाल शर्मा

जाने-माने पत्रकार अनिल यादव का अनूठा यात्रा रिपोर्ताज है 'वह भी कोई देस है महाराज'। कम ही ऐसा होता है कि कोई लगातार छह महीने एकचित्त योजना के तहत ऐसे अनुभव के लिए निकले और पूरी तैयारी के साथ। तैयारी से पहले लेखक खुशवंत सिंह, राजेंद्र यादव, अभय कुमार दुबे आदि के पास जाकर एक सवाल पूछता है कि यदि आप वहां जाते तो क्या देखते? और क्या लिखते? खुद लेखक के ही शब्दों में 'मैं पूर्वोत्तर के बारे में कुछ नहीं जानता था। बचपन में पढ़ी भूगोल की किताब से बस इतना जानता था कि वहां चाय के बागान हैं जिनमें औरतें पत्तियां तोड़ती हैं। वहां के जादू के किस्से कि वहां की औरतें लोगों को भेड़ा बनाकर अपने घरों में पाल लेती हैं। या थोड़ा बहुत असम के छात्र आंदोलन के बारे में पता था।' खैर, जैसे-जैसे किताब के पन्ने पलटते जाते हैं बार-बार यह लगता कि अपने देश के इतने संसाधनों और विविधताओं से भरे उत्तरी पूर्व सीमांत पूर्व को हम सब कितना कम जानते हैं।

शुरुआत होती है एक जानी-पहचानी फिल्म की रील की तरह भारतीय रेल से। पुरानी दिल्ली के भयानक गंदगी, बदबू और भीड़ से भरे प्लेटफार्म नंबर नौ पर खड़ी मटमैली ब्रह्मपुत्र मेल को देखकर एकबारगी लगा कि यह ट्रेन एक जमाने से इसी तरह खड़ी है। अब कभी नहीं चलेगी। अंधेरे डिब्बों की टूटी खिड़कियों पर उल्टियों से बनी धारियां झिलमिला रही थीं जो सूखकर पपड़ी हो गई थीं। रेलवे ट्रैक पर नेवले और बिल्ली के बीच के आकार के चूहे बेखौफ घूम रहे थे। इस ट्रेन को देखकर सहज निष्कर्ष चला आता था—चूंकि वह देश के सबसे रहस्यमय और उपेक्षित हिस्से की ओर जा रही थी इसीलिए अंधेरे में उदास खड़ी थी। (पृ. 10)

जिज्ञासु मन और आत्मा को लेकर चले लेखक को ट्रेन के डिब्बे में ही उत्तर पूर्व की झांकी मिलने लगती है। सामने की बर्थ पर बारह-पन्द्रह एयर बैगों, बोरियों से खड़ी सहुआइन बैठी थी। उनकी म्यांमार की सीमा पर भारत के आखरी कस्बे मोरे में परचून की दुकान है। गोरखपुर से मोरे कैसे पहुंच गईं? कहती हैं 'किस्मत भैय्या'। वे बताती हैं कि बिना 'दाढ़ी-मोंछवाला छोटा-छोटा लड़का मलेटरी-पुलिस सबके सामने आता है। टैक्स मांगता है। देना पड़ता है। नहीं तो जान से मार देगा। हमारी दुकान के आगे एक मास्टर को मार दिया। बहुत शरीफ मास्टर था। सबसे प्रेम से बोलता था लेकिन तीन महीना से टैक्स नहीं दिया था। हम लोगों की भाषा बोलने पर रोक लगा दिया है। कहता है कोई भाषा बोलो। हिंदी मत बोलो। भूल से जबान फिसल जाए तो गाली देता है।'' (पृ. 12) तो यह निराली अंग्रेजी भारत और बर्मा की अंतरराष्ट्रीय सीमा पर रह रहे बाहर के बच्चों की भाषा है जिसका आविष्कार उन्होंने जीवित रहने के लिए किया है।

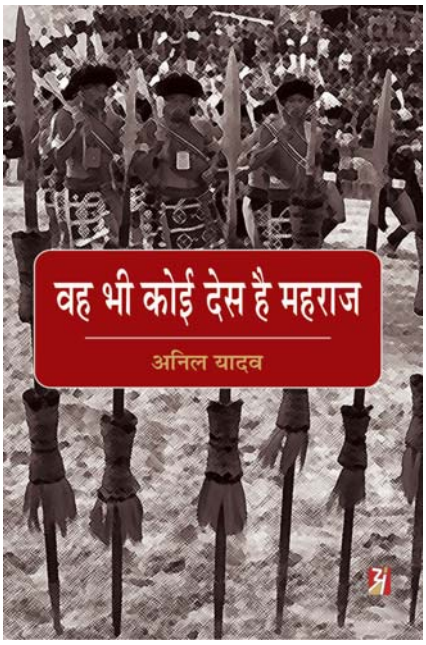

टैक्स वसूली के तथ्यों का खुलासा पुस्तक में आगे भी है। नागालैंड का मारवाड़ी दुकानदार बताता है कि चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी वेतन का 10 प्रतिशत, ग्रेड-2 कर्मचारी 20 प्रतिशत और ग्रेड-1 सेवाओं के अफसर न्यूनतम 30 प्रतिशत टैक्स देते हैं। साथ ही अंडरग्राउंड के प्रतिनिधि होने का स्वांग करने वाले लफंगों की वसूली अलग चलती है। नेता और अफसर सरकारी पैसे के उग्रवादियों के पास जाने की धेला भर चिंता नहीं करते। भ्रष्टाचार चरम से भी ऊपर है। भ्रष्टतम अफसर भी तोते की तरह प्रवचन देता है, नागालैंड को भारत ने अर्थव्यवस्था में योगदान के लिए नहीं राजनीतिक कारणों से अपने साथ रखा है। यह दिल्ली का पैसा है जो लोगों को पालतू बनाने के लिए भेजा जाता है। इसे उठाकर कोई जेब में रख ले तो हमें क्यों परेशानी होगी। (पृ. 53)

विचित्र देश की परंपराएं, प्रथाएं भी विचित्र ही कही जाएंगी। नागालैंड के घरों का एक चित्र देखिए। 'नागाओं को घरों के दरवाजे पर मिथुन के सिर टांगने का शौक है। हालांकि हेड हंटिंग पर प्रतिबंध ब्रिटिश राज में ही लगाया जा चुका था, लेकिन खोपड़ियां अब भी घरों में मूल्यवान धरोहरों की तरह सहेजकर रखी गई हैं। शत्रुओं के सिर काटकर भू-देवता को हर तरह की उर्वरा शक्ति की कामना के साथ अर्पित किए जाते थे। एक औसत नागा घर में इतने भाले, दाव, धनुष, छुरे और बंदूकें दिखती हैं

कि वह छोटा-मोटा शस्त्र संग्रहालय लगता है। इन हथियारों में बड़ा हिस्सा उन असलहों का है जो दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान इस इलाके में छूट गए थे। जिन घरों में असली बंदूकें नहीं होतीं वहां लकड़ी के नमूने रखे जाते हैं।'

अव्यवस्था का यह आलम कि हर सामान नकली। टूथपेस्ट उठाया तो मसूढ़ों में गोद की तरह चिपक कर रह गया। नहाने के साबुन से झाग नदारद लगभग पत्थर-सी बट्टी। यहां तक कि बिस्कुट भी पेस्ट की बिरादरी का था। रिपोर्टर गुस्से में दुकानदार पर चीखता है तो उसका जवाब था मेरा टूथपेस्ट ले लीजिए यह भी ऐसा ही है। यहां अंडरग्राउंड, ओवरग्राउंड दोनों का इतना ज्यादा टैक्स देना पड़ता है कि धंधा करना मुश्किल हो गया है। असली बेचें तो भूखे मर जाएंगे। हम तो बिजनेस मैन हैं। साहब यहां तो पुलिस वाले भी टैक्स देते हैं। (पृ.-53)

पढ़ते-पढ़ते चित्त अशांत होता जाता है। दुर्व्यवस्था की कितनी परतें हैं दिल्ली से लेकर छत्तीसगढ़, कश्मीर और पूर्वी सीमांत के इन लगभग भुलाए जा चुके राज्यों की। कश्मीर पर तो एक पड़ौसी देश के दबाव में बात होती भी रहती है। पैसा भी वहां कई गुना बहाया जाता है पर इन राज्यों की सुध लेने की फुरसत किसी को भी नहीं। संसाधन हैं लेकिन आबादी की वह संख्या नहीं जिसे वोट बैंक की खातिर राजनैतिक पाटियां यहां की जायज मांगों को उठाएं। नतीजा पुलिस, सेना और अंडरग्राउंड मिलिटेंट के भरोसे जनता को छोड़ दिया गया है। ऐसा भी सुना है कि कभी-कभी पड़ौसी राज्य चीन इन क्षेत्रों में ऐसे परचे भी बंटवाता है कि 'हमने जैसी रेलवे लाइन तिब्बत तक पहुंचाई है वैसी ही आपके यहां पहुंच जाएगी। आप तो नसल में भी हमारे बहुत करीब हैं। इसीलिए भारत से अलग हो जाओ।' तथ्य और आंकड़े इस सच्चाई का समर्थन भी करते हैं। यहां की गैर-कानूनी बहुत सारी गतिविधियों को संचालित करने के लिए। लेकिन बड़ा कसूर दिल्ली की सरकार का है। यदि अपना ही सिक्का खोटा न हो तो बाहर वाले की हिम्मत आंखें उठाकर देखने की नहीं पड़ सकती।

बीच-बीच में सिलसिलेवार इतिहास के पृष्ठ भी हैं। अंग्रेजों ने असम पर कब्जा 1826 में किया। नागाओं से उनका परिचय हुआ 1832 में। स्थानीय लोगों के विरोध की वजह से अंग्रेजों को इन्हें काबू करना इतना आसान तो नहीं था। डलहौजी की नीति रही बंगाली लोगों की आपसी लड़ाइयों में सरकार दखल नहीं देगी। माजुली द्वीप के गांव में झुंड के झुंड नंगे-अधनंगे बच्चों को देखकर गरीबी का अंदाजा लगाया जा सकता है। सामने ईसामसीह का कैलेंडर भड़भड़ा रहा था। रिपोर्टर पूछता है कि 'क्रिश्चियन क्यों हो गए आप?'

'की करिम उपाय नांई', उसने बच्चों की तरफ हाथ उठाया।

'सत्र में जाओ दक्खिन पथ के नामघर में!'

'वो...वो बड़ी जात के हिंदू लोगों के लिए है। हमको भगा देगा वहां से।' (पृ. 44) यानि हिन्दू धर्म की जाति की क्रूरता के आगे विवश हैं। धर्म बदलने को मजबूर।

असम, त्रिपुरा, मेघालय, नागालैंड सभी की कहानी अलग लेकिन गरीबी, नॉन गवर्नेस एक जैसे। रिपोर्टर को सैंकड़ों चरित्र टकराते हैं। मारवाड़ी, बनिया, बंगाली रुपा दा, बिहारी, उत्तर प्रदेश के गाजीपुर के हुसैन दा और हर चरित्र की एक अलग संघर्ष व्यथा-कथा। यहां के भूगोल पर इन चरित्रों के साथ चलते हुए यहां के इतिहास, सामाजिक सूचनाओं की मानो रील से गुजरता लम्बा आख्यान है यह पूरा रिपोर्ताज। 160 पेज की पुस्तक यदि राज्य विशेष के संदर्भ में शीर्षक, उपशीषकों में बंटी होती तो प्रस्तुति और अच्छी बन सकती थी। इन राज्यों की तरफ निकले किसी भी सैलानी के लिए एक महत्वपूर्ण दस्तावेज।

पूरी पुस्तक की भाषा एक पठनीय, ललित निबंध का जायका देती है। नारियल, सुपारी के पेड़ों से ढका एक छोटा-सा बंगला था जिसके लॉन में देसी गुलाबों की खुशबू गदर मचाए थी। गुलदाउदी, डहेलिया, बोगनवीलिया खिल रहे थे और अपने मुटापे के लिए एक-दूसरे पर आरोप लगाती बतखें मटक रही थीं...चारों ओर नदी ही नदी थी। उसके आगे अनंत की नीली आभा थी। हरियाली में साइकिल गुनगुनाती थी लेकिन नदी के पास अडियल जानवर की तरह बालू में पैर धंसा कर खड़ी हो जाती थी। (पृ. 43)

एक चित्र इम्फाल का—शाम तीन बजे तक इम्फाल की सड़कों पर सन्नाटा फैलने लगता था। शराब पीने, हिंदी बोलने, हिंदी फिल्मों और गानों पर उग्रवादियों की पाबंदी थी। मुंह बांधकर रिक्शा चलाना इम्फाल के पुराने फैशनों में से एक था जिसकी शुरूआत उच्च शिक्षा प्राप्त लड़कों ने शर्म ढकने के लिए दो दशक पहले की थी। लिहाजा नूपी लान, द्वितीय विश्वयुद्ध और अंग्रेजों से युद्ध के स्मारक देखने और पिन्टू होटल का मुआयना करने के अलावा कोई काम नहीं बचा था। (पृ. 133)

लेखक की नजर से कुछ भी नहीं छूटा। न स्कूल, न चिड़िया और न दूसरे पक्षी। हार्नबिल या धनेश रंगबिरंगा, असाधारण बड़ी चोंच वाला खूबसूरत पक्षी है। मादा अंडे देती है तो चार महीने की मैटरनिटी लीव पर चली जाती है। बच्चे उड़ने लायक हो जाते हैं तब घोंसले से बाहर निकलती है। इस अवधि में नर घोंसले की रखवाली करता है। पत्नी-बच्चों के लिए भोजन जुटाता है। कुछ प्रजातियों में कोआपरेटिव सोसाइटी बन जाती है। कई पक्षी परिवार मिलकर अंडे सेती मादाओं की देखभाल करते हैं। हार्नबिल जोड़ा नहीं बदलते, वफदार प्रेमी माने जाते हैं। (पृ. 119)

इतिहास, भूगोल और साहित्य की किताबों से अभी तक हम इन राज्यों के बारे में जानते आए हैं। लेकिन ऐसे पठनीय रिपोर्ताज से जानना कागज के पन्नों पर फिल्म देखने की तरह है। पुस्तक के अंत में उत्तर-पूर्व के राज्यों पर लिखी महत्वपूर्ण पुस्तकों के नाम, विवरण इस पुस्तक को और महत्वपूर्ण बना देते हैं। आसाम सहित उत्तर-पूर्व में सुलगती मौजूदा आग, अशांति को समझने के लिए यह पुस्तक और प्रासंगिक हो उठी है।

यह भी कोई देश है महाराज (यात्रा वृत्तांत)/अनिल यादव/अंतिका प्रकाशन, सी-56/यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन, एक्स.-2, गाजियाबाद-201005/ मूल्य : ₹ 150 (पेपरबैक)

96, कला विहार अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-91, फोन नं.-011-22744596 (घर) 011-23383315 (कार्या.)

विधाओं के व्याकरण के विरुद्ध एक दुनिया

पंकज पराशर

समकालीन रचनाशीलता पर बात करते हुए 'केंद्र में कविता है' या 'केंद्र में कहानी है'—इस तरह की बातें लेखकों और आलोचकों के मुंह से अक्सर सुनने को मिलती हैं। केंद्र और हाशिये की इस बहस से किसी विधा विशेष की रचनाओं के मूल्यांकन में फायदा हुआ है या नहीं, यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, लेकिन कहानी से इतर लिखी जाती गद्य रचनाओं के मूल्यांकन में इससे एक प्रकार का अवरोध जरूर पैदा होता है। चूंकि बहस और मूल्यांकन में कई बार माहौल की भी एक भूमिका होती है, इसलिए कहानी से इतर लिखी जाने वाली गद्य रचनाओं को उचित अनुपात में हिंदी आलोचना में अपेक्षित माहौल नहीं मिला। जिसके कारण जिन कथाकारों और कवियों ने कथेतर गद्य में खासा उल्लेखनीय और बेहतर काम किया है, उनकी भी कथेतर रचनाओं पर थोड़ी-बहुत ही चर्चा संभव हो सकी है। यहां तक कि हिंदी आलोचना में फणीश्वरनाथ रेणु जैसे लेखक पर भी चर्चा अक्सर 'मैला आंचल' और आंचलिकता के दायरे में ही होकर रह जाती है। 'ऋणजल-धनजल' जैसी अनूठी कृति पर चर्चा लगभग न के बराबर होती है। लेकिन जो लेखक मुख्य तौर पर कथेतर गद्य लेखन में ही रमा हुआ हो और साहित्यिक केंद्र से दूर अपनी गहरी संवेदनशीलता और संवादधर्मिता से 'बीते दुख की खंजड़ी' ही नहीं 'तारीख की खंजड़ी' तक सुन रहा हो, उस लेखक की सद्य प्रकाशित कृति 'यह एक दुनिया' काव्य और गल्प की परिभाषित दुनिया के व्याकरण में नहीं अंटती है। यह दुनिया शास्त्रीय बंधनों से परिभाषित साहित्यिक विधाओं की दुनिया के फ्रेम में भी फिट नहीं होती...एक ऐसे रिश्ते की तरह जो किसी भी तरह के संज्ञा के विरुद्ध हो!

कथादेश में 'यायावर की डायरी' से हिंदी के दरबार-ए-आम और खास दोनों में अपनी मेधा और अनुपम गद्य से अमिट छाप छोड़ने वाले बेहद संवेदनशील लेखक सत्यनारायण ने एक स्थान पर बहुत मार्मिक पंक्ति लिखी है—'मैं भगवान को छोड़कर हर चीज से डरता हूं।' आमतौर पर हमारी जानी-पहचानी दुनिया के लोग ईश्वर से डरते हैं, पर सत्यनारायण सिवाय ईश्वर के हर चीज से डरते हैं। मनुष्य की संवेदनहीनता और संवादहीनता ने कैसी दुनिया बना दी है कि लेखक ईश्वर से तो नहीं डरता, पर ईश्वर से डरने वाले लोगों से बहुत डरता है। सत्यनारायण की पुस्तक 'यह एक दुनिया' में ऐसे-ऐसे भयावह सांच की गाथाएं हैं जिसे देखकर वाकई ईश्वर से नहीं, ईश्वर के भक्तों से डर लगता है। इस पुस्तक में एक स्मृति-रेखाचित्र है 'बूढ़ी बामणी'। जो कहती है कि 'इस खोड़ली दुनिया से तो यह रामा ही भला।' एक भावुक और निस्सहाय स्त्री को गांव के लोग डायन बताकर बेइंतहा जुल्म करते हैं और वह औरत गांव से तड़ीपार जंगल में झोपड़ी डालकर रहने को विवश होती है। पर लोग वहां भी उसे चैन से रहने नहीं देते। महाश्वेता देवी की एक मार्मिक कहानी है 'बायेन'। उसमें भी बायेन यानी डायन कहकर एक स्त्री को अपने पति और बच्चों से दूर जंगल में रहने को विवश किया जाता है। उसकी मौत उसी तरह हौलनाक तरीके से होती है जिस तरह बूढ़ी बामणी की मौत! जिस झोपड़ी में वह रहती थी उसी में वह मरती है और इंतेहा देखिए कि वही झोपड़ी उसकी दो गज जमीं साबित होती है जिसमें आग लगाकर लेखक उसका दाह-संस्कार कर देता है। झोपड़ी के बाहर गुड़-चने की पोटली के बारे में वे कहते हैं, 'जिसे अब मुझे जीवन भर चबाना था—एक कड़वी सच्चाई के साथ।'

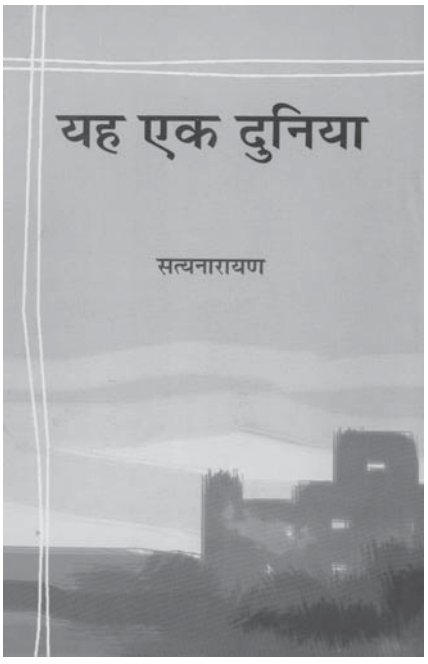

सत्यनारायण की गद्य-भाषा इतनी मार्मिक और अर्थगर्भित होती है कि उसे देखकर काव्य-भाषा का संश्लेषण भी कमतर जान पड़ता है। पूरी पुस्तक में सैकड़ों ऐसी पंक्तियां हैं जिन्हें पढ़ने के बाद आदमी की नजर वहीं ठहर-सी जाती है। दिल में भावनाओं की ऐसी हिलोरें उठती हैं कि आगे बढ़ पाना कठिन हो जाता है। चूंकि अनसुनी और अनदेखी दुनिया के जीवनानुभवों से वे पंक्तियां निकली होती हैं, इसलिए सहसा पाठकों के मानस-पटल पर वे पंक्तियां खचित

हो जाती हैं। ये काम आमतौर पर काव्य-पंक्तियां करती हैं, पर सत्यनारायण के रिपोर्ताजों में बहुतेरी ऐसी पंक्तियां लक्षित की जा सकती हैं, जिनसे गुजरते हुए आप रुके बिना नहीं रह सकते। ओ.हेनरी ऐसी पंक्तियां लिखने के मास्टर थे, जिनके कथांत में सुंदर और मार्मिक पंक्तियां उनके सिग्नेचर ट्यून की तरह होती हैं।

जाति-धर्म, ऊंच-नीच, अमीर-गरीब की इस दुनिया में सुविधा और अनुशासन में जीने वाले समाज के अधिकांश लोगों के पास ऐसी अनुभव की पूंजी नहीं हो सकती, जो सत्यनारायण के पास है। रैन बसेरे में सर्दी से राहत के लिए लेखक और उनके दोस्त को जब कोई जगह नहीं मिलती तो वे रजाई में अकेले सो रहे आदमी की रजाई में घुस जाते हैं। सुबह की हकीकत-बयानी देखिए, 'सुबह राम ने रजाई खींचकर जगाया तो वह चौंक पड़ा। मेरी बगल में एक बूढ़ा भिखारी सो रहा था। उसके शरीर के अंगों पर जगह-जगह पीप जमा हुआ था और उसपर चीटियां रेंग रही थीं। वह मर चुका था। जाने कब का मरा हुआ था। शायद तब से ही, जब मैं उसकी बगल में सोने के लिए घुसा।' (पृ.155) यह जो दुनिया है वह दुनिया उन्हीं मनुष्यों की दी और बनाई हुई है जिनसे लेखक डरने की बात करता है। इस पुस्तक में ऐसी अनेक दिलचस्प दास्तानें हैं, जिनकी खुसूसियत को बयान करने के लिए एक समीक्षा नाकाफी है, सो पल्लवग्राही अध्ययन की तरह कुछ अहम दास्तानों पर नजर डालेंगे। 'मेरी जाति सिर्फ रिक्शा है' एक ऐसी दास्तान है जिसमें जाति आधारित भारतीय समाज-व्यवस्था की क्रूरतम हकीकत सामने आती है। जो लोग आम इनसान जानकर उपेक्षा से आगे बढ़ जाते हैं, उन्हीं लोगों की जाति से जब लेखक संबद्ध होने की बात करता है तो वही लोग बखुशी मदद को हाथ बढ़ाते हैं। क्या सिपाही, क्या रिक्शावाला—जाति सबकी नसों में पैबस्त है। 'उसे सरकार और भगवान का पता चाहिए' क्योंकि रामजीलाल नाम का आदमी सरकार और भगवान से जिन सवालों का जवाब चाहता है, उन सवालों का जवाब उसे कोई नहीं दे रहा—न समाज, न सरकार, न ईश्वर। राजस्थान की राजधानी जयपुर की

चमकीली और हवामहल की दुनिया से उसके अंदर धड़कती उस दुनिया को आम लोगों को पता नहीं मिल सकता जहां 'रात कभी नहीं सोती है।' जहां हवेली बुढ़ाती रहती है और गली दांतरे फाड़ती रहती है, उस गली के लोग अपने-अपने खोल ओढ़कर रात के चेहरों को कहीं छिपा देंगे दिनभर के लिए। रात को जो चेहरे उनकी असलियत हैं वह दिन के उजाले में छिपा दिए जाते हैं और आम लोग चूंकि दिन के चेहरे से किसी के बारे में अपनी राय बनाते या बिगाड़ते हैं, इसलिए वे यथार्थ की इस परत को जान नहीं पाते हैं। जीवन की वर्णमाला आम लोग क से कमल सीखते हैं या कवर्ग से शुरू होने वाले जीवन-जगत के किसी और चीज से, मगर सत्यनारायण के दारुण जीवन सच से वर्णमाला कुछ यूं शुरू होती है—'क माने कफन।' उनके पास मरे हुए मनुष्य ही नहीं, मरे हुए शहर तक की सच्ची खबर होती है। इसलिए यह अनायास नहीं है कि रिपोर्ताजों को सांसारिक और मानवीय संकटों का भू-मापक यंत्र भी कहा जाता है।

पत्रकारिता की पेशेवर जरूरत है पत्रकार की तटस्थता। जबकि साहित्य की पेशेवर जरूरत है मनुष्य से प्रतिबद्धता। सत्यनारायण के रिपोर्ताज तटस्थता और प्रतिबद्धता दोनों के मेल से लिखा गया है, जहां उन दुनियाओं की आंखिन देखी का बयान है जहां न अब रवि जाता है, न कवि। वे 'भूख का सत' और 'क्योंकि भूख रोज लगती है' जैसे रिपोर्ताजों से हमें अपनी ही दुनिया की उस जीवन-कथा से अवगत कराते हैं, जहां 'भूख का सत' ही जीवन का वास्तविक सत है, यह पता चलता है। जिन्हें काम मिलता है और जिन्हें काम नहीं मिलता है, भूख सबको बराबर लगती है, लेकिन भूख मिटाने के लिए उनके पास पैसे नहीं होते, जिन्हें काम नहीं मिल पाता है। हमने कभी आमतौर पर ये सोचकर और महसूस करके नहीं देखा है कि देश की एक विशाल आबादी ऐसे हालात में बिना चोरी किए, डाका डाले कैसे जीवन-रक्षा करती है। उनकी ये रचनाएं एक ओर यथार्थ का दस्तावेजीकरण हैं तो दूसरी ओर सचाई का अन्वेषण। इसलिए उनके यहां जीवन के अनेक रंग, अनेक जीवन-स्थितियों के साथ पूरी संवेदनशीलता के साथ मौजूद मिलते हैं। सत्यनारायण के पास एक तरफ जहां फणीश्वरनाथ रेणु जैसी जीवंत और मोहक भाषा है, वहीं अनछुए और अनजाने यथार्थ को अनावृत्त करने वाली मंटो जैसी दृष्टि और तेवर। कथा और उपन्यास से अलग हटकर अभिजन दुनिया के समानांतर अदृश्य दुनिया की दृश्यवत् गाथा शब्द-शक्ति के वास्तविक रूप अभिधा में बहुत मार्मिकता से अभिव्यक्त हुआ है।

यह एक दुनिया (रिपोर्ताज)/सत्यनारायण/मेधा बुक्स, एक्स-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ₹ 300

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, ए.एम.यू., अलीगढ़-202002, मो. 0-9634282886

सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानी 'अखबार वाला' का अंतर्पाठ

साधना अग्रवाल

भारतीय प्रवासी लेखिका सुदर्शन प्रियदर्शिनी एक अरसे से कहानियां लिखती रही हैं। उनका कहानी संग्रह 'उत्तरायण' पिछले वर्ष ही आया है लेकिन हिंदी संसार के पाठक उनके नाम से विशेष परिचित नहीं होंगे। ऐसा संभवतः इसलिए भी हुआ कि समकालीन चर्चित पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएं कम ही छपीं या उनकी खास नोटिस नहीं ली गई, इसलिए भी एक कहानीकार के रूप में अपनी पहचान बनाने में उन्हें कठिनाई हुई। लेकिन मुझे लगता है कि यदि कोई पाठक एक बार उनकी इस कहानी 'अखबार वाला', जिस पर हम विचार करने जा रहे हैं, पढ़ ले तो उसे आसानी से नहीं भूल सकता। प्रायः प्रवासी लेखकों की कहानियों में अतीत की स्मृतियों के द्वंद्व से उत्पन्न कोलाज होता है, जिसे आप चाहे तो करुणा बिगलित नोस्टेलजिया भी कह सकते हैं लेकिन सुदर्शन प्रियदर्शिनी की इस कहानी में अतीत भी है और उसकी स्मृतियां भी, भारतीय संस्कृति और उसके संस्कार भी हैं लेकिन सबसे बढ़कर उस भयावह परिवेश के वर्तमान के कठोर यथार्थ की टकराहट है, जिसके केन्द्र में मनुष्यता की खोज है।

अपनी इसी कहानी की रचना-प्रक्रिया के बारे में वह लिखती हैं—'स्थितियों का बेगानापन, भावनाओं का विरोधाभास, व्यक्तियों की तटस्थता और एक बेलाग, बेतहाशा दौड़ती जिंदगी से मोहभंग की कहानी है यह। यह कहानी यथार्थ की पनडुब्बी से निकली है। इस तल में है मेरी उदासी, हैरानगी और एक अभंग सा मोहभंग। बहुत दिनों तक जब उबर नहीं पाई तो इस बेलाग तटस्थता से उतर आई यह कलम की जवान पर...नहीं रह सकी अपना दर्द बांटे बगैर। यूं तो आज अपनी जमीन भी इस जमीन जैसी समतल हो गई है। इसलिए अब मोहभंग भारत आकर होते हैं, यहां नहीं। वहां अभी भी हम अपने हिंडोले में झूलना चाहते हैं, अपनी ही संस्कृति की लोरियां सुनना चाहते हैं, जो यहां कब की मर चुकी हैं। आधुनिक सभ्यता के तेज तूफानों में तिरोहित हो चुकी हैं। संबंध, रिश्ते यहां एक बेजा सी गाली है जो आपका रास्ता रोकते हैं। बेलाग से किनारे पर खड़े आवाज देते रहें, बस ठीक है, यहां आपा-धापी है तो केवल अपनी। पाना और खोना सिर्फ बाहरी है-भौतिक है। यहां केवल सिक्का चलता है, चूमा-चाटी, गलबहियां सब दिखावटी और स्थितिपरक चोंचले हैं। इसलिए पहली बार मौत को इतने नजदीक या वास्तव में इतनी दूर से देखकर मन दहल गया था। उसी दहल से निकली यह कहानी अखबार वाला।'

दरअसल 'अखबार वाला' एक छोटी कहानी है लेकिन कहानी में जिस भयावह यथार्थ को उठाया गया है, उसका सरोकार बड़ा है, सीधे मनुष्य होने के अर्थ की तलाश करता हुआ। विदेशी परिवेश है जहां भारतीय मूल की एक औरत अकेली रहती है। उसके इस अकेलेपन में पीछे छूटा घर-द्वार, परिवार की छोटी सी झलक मिलती है लेकिन विदेशी परिवेश में अकेली रह रही जया नामक इस औरत के भीतर जब-तब भारतीय संस्कार जाग उठते हैं। इस संस्कार में मनुष्यता, जान-पहचान, पड़ोसियों से सहृदयता, मेल-जोल और मृत व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति का भी एक कोना होता है चाहे वह छोटा ही क्यों न हो। जया विदेशी परिवेश में यह देखकर हैरान है कि यहां पड़ोसी एक-दूसरे से मिलने-जुलने की बात तो दूर, उनका नाम भी नहीं जानते। सब अलग-थलग अपने में सिमटे रहते हैं लगभग एलिनियेशन या आत्मनिर्वासन की हद तक यानी मनुष्य तो ये हैं लेकिन उनके पास आत्मा नहीं है। मेरे कहने का मतलब यह है कि बिल्कुल पड़ोस में मृत्यु जैसी बड़ी घटना भी उन्हें विचलित नहीं करती। वे इन घटनाओं से बिल्कुल निस्पृह बने रहते हैं।

जया की स्थिति कुछ अलग है। वह अपना देश तो बहुत पीछे छोड़ आई लेकिन संस्कार नहीं छोड़ पाई और इन्हीं संस्कारों के कारण उसमें मनुष्यता बची हुई है, जो पड़ोस में मृत्यु की घटना देखकर विचलित होती है। इस छोटी कहानी के केन्द्र में एक लंबा बूढ़ा पड़ोसी है जिसे वह हर सुबह अखबार उठाते देखती है, संभवतः इसीलिए इस कहानी का शीर्षक 'अखबार वाला' है। इस कहानी में कोई कहानी नहीं है। पात्र भी लगभग नहीं हैं। कहानी लगभग घटना विहीन है। कहना चाहिए इस कहानी में कई पार्श्वच्छवियां हैं, जिन्हें पकड़ने की जया कोशिश करती है। किसी ने कहानी को 'अंधेरे की चीख' कहा था, कहा तो 'अंधेरे की कौंध' भी गया था लेकिन कहानी में वस्तुतः हम उस नए यथार्थ की तलाश करते हैं जिसे हम सब देखते तो हैं लेकिन महसूस नहीं करते। एक अच्छा कहानीकार यथार्थ की उस कौंध को अनुभूति के स्तर पर संवेदना के धरातल पर महसूस करने की कोशिश करता है। इसलिए भी कहानी में कहानी न होते हुए भी कहानीपन शेष रह जाता है। अब यह कहानीकार के कथाकौशल पर निर्भर करता है कि वह अपनी कल्पनाशक्ति से उस भयावह यथार्थ को हमारी आंखों के सामने अनावृत करे। सुदर्शन प्रियदर्शिनी ने जया जैसे पात्र के माध्यम से हमें विदेशी परिवेश के उस भयावह यथार्थ से, जहां पड़ोसी की मृत्यु से भी हम संवेदित नहीं होते, हमारी मृत मनुष्यता को जगाने का प्रयास किया

है। इस कहानी में जैसा ऊपर कहा गया है, जया में भारतीय संस्कार हैं लेकिन वह इन संस्कारों से मुक्त होने की कोशिश नहीं करती बल्कि इन संस्कारों के कारण ही अपने मनुष्य होने के धर्म का निर्वाह करती है। वह देखती है कि विदेश में प्रायः पड़ोस में सन्नाटा फैला रहता है क्योंकि हम एक-दूसरे को जानने की कोशिश नहीं करते हैं। कहानीकार ने लिखा भी है—'आस-पड़ोस से ग्राहक और दूकानदार जैसा रिश्ता उसे काटता ही है लेकिन आदत बनती जा रही है। हेलो-हाय स्टिक नोट की तरह एक तरफ से उघड़ी, दूसरी तरफ से चिपकी सी मुस्कान व्यक्ति के अस्तित्व को समाप्त कर देती है। अपने आप पर केन्द्रित यह समाज कितना बेलाग और बेगाना है।' यहां एक बात का उल्लेख करना मुझे जरुरी लगता है जहां अन्य अधिकांश प्रवासी लेखक आधुनिकता की आंधी में बहते हुए भारतीय संस्कारों से मुक्ति का प्रयास करते हैं, इस कहानी में वैसा नहीं होता। कहानी के आरंभ के कुछ वाक्य देखिए—'जया ने ज्योंही सुबह उठकर खिड़की पर छितरी ब्लाईंड्स का कान मरोड़ा, उजाला धकियाता हुआ अंदर घुस आया। इस उजाले के साथ-साथ हर सुबह एक सन्नाटा भी कमरे के कोने में दुबका पड़ा-उठ खड़ा होता था।

इतने वर्षों के बाद आज भी दूर अपनी खिड़की से झांकता बरगद का पेड़, चिड़ियों की चहचाहट, रंभाती गाएं, पड़ोसी के चूल्हे से उठता उपलों का गंधित धुआं, मिट्टी की कुल्ली में उबलती चाय का पानी-मन के किसी कोने में सुबह की दूब से उभर आते और सारी सुबह पर जैसे अबूर छिड़क देते। अन्यथा इस सड़क पर न कोई आहट, न टेफिक की धमाधम, न चिल्लपौं, न स्कूल जाने वाली बच्चों की मीठी भोली चिटकोटियां...उसकी हर सुबह एक अधूरेपन के ग्रहण से ग्रसित हो जाती...।'

यहां एक तरफ विदेशी परिवेश में फैला अछोर सन्नाटा है तो दूसरी तरफ वर्षों पहले पीछे छूटे गांव की एक अद्भुत हार्दिक तस्वीर। जहां पड़ोसी के घर से धुआं उठ रहा है, गाय रंभा रही है और चिड़िया चहचहा रही है। जया यह देखकर हैरान है कि पीछे छूटे देश और विदेश के इस परिवेश में कितना अंतर है ?वह एक अंतर्द्वंद्व से जूझती रहती है और उसके मन में तरह-तरह के प्रश्न उठते रहते हैं। वह विदेशियों की तरह पड़ोसियों से अलग-थलग नहीं रहना चाहती। वह उनका नाम, काम, पारिवारिक संबंधों के बारे में जानकारियां लेना चाहती है। उनके साथ हाय-हेलो करना चाहती है लेकिन उसके भीतर एक संकोच और झिझक है। एक बार ऐसा भी हुआ कि कार में चाबी अंदर छूट गई थी, जिसके लिए उसने पड़ोसी की मदद भी ली।

इस छोटी कहानी के घेरे में जया के अतिरिक्त वह बूढ़ा है जिसे जया हर सुबह अखबार उठाते देखती है। दोनों के बीच एक दूरी है। न जान-पहचान है और न कोई आत्मीयता, फिर भी एक लगाव जैसा है। जया बार-बार चाहती है कि वह उसके करीब जाए और उसका नाम पूछ ले लेकिन ऐसा हो नहीं पाता। मन ही मन जया इसके लिए स्वयं को धिक्कारती भी है। एक दिन उसे बूढ़े के मरने की खबर मिलती है। पड़ोस में शव को ले जाने वाला एक वाहन खड़ा है उसके इर्द-गिर्द एक-दो लोग हैं। इस स्थिति को किस तरह महसूस किया गया है देखिए-'जया का मरने वाले से कोई नाता कोई पहचान तक नहीं थी। नाता सिर्फ इतना था कि हर सुबह वह उस सामने वाले घर से एक लंबे-लंबोत्तरे चेहरे वाले सौम्य व्यक्ति को अखबार उठाते देखती...कभी-कभी दूर से नजरों का धुंधला सा टकराव होता और औपचारिकता से आधा उठा हुआ हाथ हेलो में हिलता। एक कल्पित सी मुस्कान शायद दोनों तरफ होती थी...या नहीं...याद नहीं। बस इतनी सी पहचान थी, इतना सा नाता था। इस पहचान में कहीं भी अपनत्व या पड़ोसीपन नहीं था।'

इतनी छोटी सी पहचान की प्रतीति से उत्पन्न अनेक भावनाएं इस कहानी में एक साथ उठती हैं। इन भावनाओं के घात-प्रतिघात से जया के मन में उत्पन्न मृत उस व्यक्ति के प्रति विह्वलता ही उसके मनुष्य होने की पहचान है। एक साथ वह क्या-क्या न सोच जाती है—'ओह! फिर सोच में डूब गई। गेट पर ठिठकी खड़ी थी। कपड़े बदलूं या यही पहनूं? क्योंकि अभी भी कहीं इच्छा थी वैन के अंदर झांककर चेहरा देखने की...और सम्बन्धियों से गले मिलने की...किन्तु ये तो...डाइक्लीन वाले कपड़े हैं...डाइक्लीन करवाने पड़ेंगे...दूसरे ही क्षण जया ने अपने आप को धिक्कारा...वह भी पहाड़े पढ़ने लगी...वह धड़ाधड़ गेट से निकल कर सीधे वैन के पास पहुंच गई। शरीर तो

अंदर रखा ही जा चुका था। वह लंबा, छरहरा, लंबोत्तरे मुंह वाला व्यक्ति नहीं, अब केवल शरीर था जिसे अंतिम बार देखने का अवसर भी मिट चुका था।'

जया के भीतर जो तूफान मचा है, उसमें एक तरफ पश्चाताप है तो दूसरी तरफ मनुष्य होने के नाते अपना धर्म न निबाहने की आत्मग्लानि और पीड़ा। जया भीतर ही भीतर जिस अंतर्द्वंद्व से गुजरती है, उससे साफ पता चलता है कि अखबार वाला वह व्यक्ति सचमुच उसका पड़ोसी था जिसे जानने-पहचानने से एक तरफ विदेशी परिवेश रोक रहा था तो दूसरी तरफ भारतीय संस्कार के कारण उससे उसकी आत्मीयता हो गई थी, बिल्कुल पीछे छूटे अपने गांव में मरने वाले व्यक्ति की तरह। भले मृत बूढ़े अखबार वाले से उसका कोई परिचय नहीं था लेकिन उसके होने से हर सुबह सन्नाटा टूटता जरुर था। यही कारण है कि यह कहानी हमारे उपर से यूं ही नहीं गुजर जाती बल्कि हमें भीतर तक स्पर्श करती है। आज जैसी कहानियां लिखी जा रही हैं उसमें बाहरी रूप-रंग के साथ शिल्प की चमक तो खूब होती है, लेकिन जो नहीं होता है, वह कहानीपन है। इस कहानी की यह विशेषता है कि उपर से देखने पर यह सपाट लगती है लेकिन कहानी से गुजरते वक्त यह अहसास हुए बिना नहीं रहता कि घटना और पात्रों के अभाव में भी सचमुच कोई ऐसी कहानी लिखी जा सकती है जो आपके मन-प्राण को छू ले। मेरी तरह इस कहानी को पढ़कर पाठक भी इसे पसंद करेंगे और एक अविश्वसनीय कहानी के रूप में याद रखेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

बी-19/एफ, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091, मो.-9891349058,
ईमेल : agrawalsadhna2000@gmail.com

फतवा के दर्द की दास्तां

अनंत विजय

सन् 1989 की बात है। अचानक विश्वभर में एक शब्द—फतवा—बेहद मशहूर हो गया। दरअसल 1988 में भारतीय मूल के बुकर पुरस्कार प्राप्त लेखक सलमान रश्दी की किताब—द सैटेनिक वर्सेस—प्रकाशित हुई थी। उस किताब के प्रकाशित होने के बाद इस्लामिक जगत में भूचाल आ गया था। लंदन से दो सौ मील दूर ब्रैडफोर्ड में सलमान रश्दी के घर के बाहर इस्लाम में आस्था रखनेवाले लोगों ने प्रदर्शन किया। प्रदर्शनकारियों का आरोप था कि सलमान रश्दी ने द सैटेनिक वर्सेस में पैगम्बर की निंदा की है। सलमान को इसका जिम्मेदार ठहरानेवालों ने उस वक्त तक उनके उपन्यास को पढ़ा भी नहीं था। लेकिन ब्रैडफोर्ड से सुलगी विरोध की आग लगातार कई इस्लामिक देशों में फैलती चली गई। आखिरकार 14 फरवरी 1989 में ईरान के सुप्रीम लीडर अयातुल्ला खोमैनी ने रश्दी के मौत का फतवा जारी करते हुए उनको मारने वाले को एक मिलियन डॉलर देने की पेशकश का भी एलान कर दिया। अंग्रेज और अंग्रेजों की दुनिया के लिए उस वक्त फतवा शब्द बिल्कुल नया था। कई देशों ने इस किताब पर पाबंदी भी लगा दी थी। द सैटेनिक वर्सेस के आयात पर भारत ने भी पाबंदी लगा दी थी। उस वक्त पूरी दुनिया में अभिव्यक्ति की आजादी को लेकर काफी बड़ी बहस चली थी। सलमान रश्दी को अयातुल्ला खौमैनी के फतवे की वजह से भूमिगत होना पड़ा था, अपना नाम बदलना पड़ा था। कई बार तो सार्वजनिक स्थानों पर जाने के लिए सलमान रश्दी ने विग भी लगाए थे। उस दौरान सलमान रश्दी ने अपना नाम बदलकर जोसफ एंटन रख लिया था। जोसफ पहला शब्द है जोसफ कोनार्ड का और एंटन पहला शब्द है महान लेखक एंटन चेखब का। इस तरह से जोसफ एंटन का जन्म हुआ। तकरीबन दस सालों तक फतवे के दंश को झेलने का दर्द की दास्तां है सलमान रश्दी की नई किताब—अ मेमोआॅर—जोसफ एंटन। सलमान के संस्मरणों की इस किताब में उसके मुंबई से लंदन और वहां से न्यूयॉर्क जाकर बसने और उस दौरान उसकी जिंदगी में घटित हुई घटनाओं का विस्तृत विवरण है। सलमान रश्दी ने जोसफ एंटन में पिता-पुत्र के बीच की अंतरंगता, विवाह और विवाहेत्तर संबंधों के अलावा मित्रता और शत्रुता पर भी विस्तार से लिखा है।

अपने व्यक्तिगत संबंधों, पसंद-नापसंद, कुंठाओं के अलावा सलमान रश्दी ने उस दौर के सांस्कृतिक और राजनीतिक टकराहट को भी अपनी इस किताब में समेटने की कोशिश की है। सलमान ने लिखा है कि दो अलग अलग ध्रुवों के यथार्थ के बीच लगातार टकराव होता रहता है। जार्ज ऑरवेल ने लेखकों को राजनीति से अलग रहने की जमकर वकालत की थी लेकिन सलमान रश्दी ने 1984 में ऑरवेल की उस अवधारणा को खारिज करते हुए कहा था कि लेखन को राजनीति से मिलाकर चलना होगा। सलमान ने लेखन और राजनीति के मेलजोल को जटिल तो करार दिया लेकिन उसका समर्थन किया। लेकिन तब सलमान को शायद इस बात का पता नहीं रहा होगा कि लेखन में राजनीति और धर्म के घालमेल का क्या असर हो सकता है। उस वक्त सलमान ने सोचा भी नहीं होगा कि उस घालमेल की वजह से उसे लगभग एक दशक से ज्यादा वक्त तक संगीनों के साए में गुमनाम जिंदगी बितानी होगी।

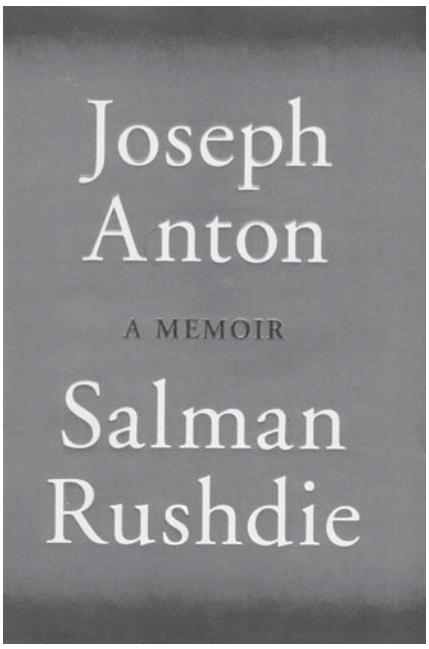

संस्मरणों की अपनी नई किताब में सलमान रश्दी ने अपने दस साल के छुप कर बिताई गई जिंदगी के पन्नों को खोलते हुए दावा किया है कि उनका उपन्यास द सैटेनिक वर्सेस राजनैतिक उपन्यास नहीं था बल्कि वह एक कलाकार की अपनी समझ से चीजों को देखने का एक नजरिया था। लेकिन इन बातों पर अब भी बहस की गुंजाइश है कि एक कलाकार को एक धर्म विशेष की भावनाओं से खिलवाड़ करने की कितनी छूट दी जा सकती है। कई लोग सलमान की किताब द सैटेनिक वर्सेस पर पाबंदी को लेखकीय स्वतंत्रता पर हमला मानते हैं लेकिन उस दौर में भी इलियट बेनबर्गर ने द सैटेनिक वर्सेस को इस्लाम की आधारभूत अवधारणा पर हमला करार दिया था।

सलमान रश्दी की नई किताब जोसफ एंटन की सेंट्रल थीम है—पलायन। पलायन यहां दो अर्थों में मौजूद है एक तो मौत के फतवे के डर से पलायन जिसमें एक युवा लेखक मौत के डर से अपना घर बार छोड़ देता है और पुलिस के पहरे में एक सुरक्षित स्थान से लेकर दूसरे सुरक्षित स्थान की तलाश में

भटकता रहता है। ब्रिटिश सरकार ने तकरीबन नौ साल तक सलमान रश्दी को चौबीस घंटों की सुरक्षा मुहैया करवाई थी वह भी अपने ए ग्रेड सुरक्षा दस्ते से। हालांकि सलमान का दावा है कि उन्होंने इन स्थानों पर रहने के एवज में खुद से पैसे चुकाए थे। इस किताब में पलायनवादी अवधारणा एक और अर्थ में मौजूद है। जिसे सलमान रश्दी फतवे के दौरान अपनी लेखकीय स्वतंत्रता को कुछ हद तक बचाने की जद्दोजहद करते हैं। मौत के साए में सलमान ने—द मूर'स लास्ट साय जैसा अहम उपन्यास लिखा। इसके अलावा बच्चों के लिए हारून एंड द सी ऑफ स्टोरीज भी लिखा। इस दौर में फतवे के खिलाफ अपनी जिजीविषा को दृढ़ कदम के लिए सलमान ने किताबों की समीक्षा, लेख आदि भी लिखे। जोसफ एंटन को सलमान रश्दी ने एक उपन्यास की तरह लिखा है जिसमें कई जगहों पर तो नैरेटिव आसमान की बुलंदियों पर पहुंच जाता है लेकिन कई जगहों पर वह खासा बोझिल भी हो जाता है। अपनी इस आत्मकथात्मक उपन्यास या संस्मरण जो भी कहें— में सलमान ने 'मैं' की जगह 'वह' शब्द का इस्तेमाल किया है। सलमान ने इस बात के पर्याप्त संकेत भी दिए हैं कि फतवा के बाद सलमान का व्यक्तित्व कई हिस्सों में विभक्त हो गया था। अपने मित्रों के लिए अलग, पुलिस वालों के लिए अलग, बच्चों और परिवार के लिए अलग और दुनिया के लिए अलग। व्यक्तित्व का यह विभाजन सलमान की इस किताब में साफ तौर पर देखा जा सकता है। इस किताब के शुरआती अध्याय सबसे ज्यादा दिलचस्प और रोचक हैं जहां सलमान रश्दी अपने मुंबई के दिनों को याद करते चलते हैं। यहां वे बताते हैं कि उनके पिता ने 12 वीं सदी के अरबी भाषा के विद्वान इब्न रश्द के लेखन से प्रभावित होकर रश्दी नाम अपनाया था। तेरह साल की उम्र में सलमान ने मुंबई छोड़ दिया और इंगलैंड के बोर्डिंग स्कूल में चले गए। सलमान के मुताबिक वे अपने स्कूल में बेहद अकेले और अलोकप्रिय थे। बाद में वे इतिहास के विद्यार्थी के तौर पर कैंब्रिज पहुंचे जहां उन्होंने पहली बार सैटेनिक वर्सेस पढ़ी।

सलमान ने अपनी इस किताब में अपनी दूसरी पत्नी और अमेरिकी उपन्यासकार मैरियन विगिंस के बारे में विस्तार से लिखा है। मैरियन सलमान रश्दी की दूसरी पत्नी थी और 1988 में रश्दी ने उनके साथ शादी की थी।

रश्दी की यह शादी करीब पांच साल तक चली। यह वह दौर था जब सलमान अपनी जान बचाने के लिए एक जगह से दूसरे जगह भागे-भागे फिर रहे थे। लेकिन अपनी इस किताब में रश्दी ने अपनी दूसरी पत्नी का जो चित्र खींचा है वह बेहतरीन है। उनकी पत्नी ये मानने लगी थी कि सलमान के साथ वक्त बिताना मुश्किल है सो उसने रश्दी के दोस्त बिल बफोर्ड में अपनी संभावना तलाशते हुए उसके साथ हमबिस्तर हुई थी। बिल ने रश्दी को बिना बताए अमेरिका में उसकी पत्नी के लिए एक घर किराए पर ले लिया और पत्रिकाओं को उसके बारे में साक्षात्कार देना शुरू कर दिया। जाहिर है शादी टूटनी ही थी। उसके बाद सलमान ने एक और शादी की जो चार-पांच साल तक चली। बाद में सलमान ने भारतीय मूल की अमेरिकन मॉडल और टीवी एंकर पद्मा लक्ष्मी के साथ शादी की। सलमान रश्दी पद्मा से स्टैच्यू ऑफ लिबर्टी के नीचे मिले थे और उसकी सुंदरता ने उनका मन मोह लिया था। शादी हो गई लेकिन ये भी तीन-चार साल ही चल पाई। इस विवाह और अलगाव को भी सलमान ने जोसफ एंटन में अहमियत दी है।

सलमान रश्दी के इस साढे छह सौ पन्ने की किताब को पढ़ते हुए प्रायः विवरणों की बहुतायत उसमें बाधा बनती है खासतौर पर जब वे पुराने पत्रों और दस्तावेजों का विवरण देने लगते हैं। इस किताब में कई बार असावधानीवश 'मैं' की जगह 'वह' का प्रयोग भी प्रवाह में बाधा डालता है। अपनी इस संस्मरण की किताब में सलमान ने विस्तार से उन लोगों की सूची दी है या उनके बारे में लिखा है जिन्होंने उन्हें उस दौर में दगा दिया, ठगा, आलोचना की, अपमानित किया आदि आदि। इस किताब में एक जगह अरुंधति राय के साथ उनका दिलचस्प संवाद है। अरुंधति के पहले उपन्यास के बाद उसकी पहली समीक्षा छपने का प्रसंग है जिसको पढ़कर सलमान और अरुंधति दोनों की मानसिकता का अंदाज लगाया जा सकता है।

सलमान ने कैंब्रिज की अपनी पढ़ाई के बाद कई विज्ञापन एजेंसियों में कॉपी राइटर का काम भी किया। उसके कॉपी राइटर होने की दक्षता उनके उपन्यासों में दिखाई देती है जहां वे मुहावरे गढ़ते चलते हैं। इस वजह से उनका गद्य बोझिल होने से बच जाता है। ऐसा ही एक मुहावरा है कि जिंदगी आगे बढ़ने का नाम है लेकिन जिंदगी का मूल्यांकन पीछे लौटकर ही किया जा सकता है। सलमान के साथ भी और इस किताब के मूल्यांकन के साथ भी यही मुहावरा लागू होता है। जहां उनकी जिंदगी और उनके दंश और दर्द का फैसला पीछे लौटकर ही किया जा सकता है। सलमान रश्दी ने अपनी इस किताब में यही किया है और अपनी पिछली जिंदगी के पन्नों को खोलकर सामने रख दिया है। विवाद हो सकते हैं, असहमतियां हो सकती हैं लेकिन इस संस्मरणात्मक उपन्यास को खारिज करना मुमकिन नहीं है। रश्दी ने इस बात का भी संकेत दिया है कि अभिव्यक्ति की आजादी को लेकर उनका संघर्ष जारी रहेगा और किताबों की महत्ता स्थापित करने के लिए वे काम करते रहेंगे। इस मसले पर रश्दी ने एक जर्मन कवि को याद किया है जहां वह कहता है—जहां लोग किताबें जलाते हैं वहां आखिर में वे मनुष्यों को जलाने से भी नहीं हिचकते।

जोसफ एंटन/सलमान रश्दी/जोनाथन केप, लंदन/मूल्य : ₹ 799

आरटी-222, रॉयल टॉवर, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201014 (उ.प्र.), मो. 09871697248
ईमेल : anant.ibn@gmail.com